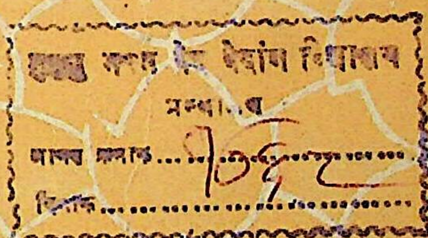
कुछ अपनी कुछ जगकी



रामेश्वर टाँटिया

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

कुछ अपनी—

—कुछ जगकी

रामेश्वर टाँटिया

जुलाई १९६७

मूल्य — १·५०

प्राप्ति स्थान—
हिन्दी पुस्तक एजेन्सी
२०३, महात्मा गांधी रोड,
कलकत्ता—७

पपुलर आर्ट प्रिन्टर्स, कलकत्ता

भूमिका

जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में विविध वातावरण के बीच मनुष्य के विचारों में न जाने कितनी बार कितने संघर्ष आते हैं और तब मन विश्व की कितनी समस्याओं में कहाँ-कहाँ घूम आता है।

विचार-सरणियों की यात्रा में जिन-जिन अनुभवों के बीच से गुजरा तभी उन्हें रेखांकित करता गया और समय-समय पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में ये स्फुट-विचार प्रकाशित होते रहे। इनमें कहीं-कहीं विरोधाभास भी मिल सकता है जो कि विभिन्न परिस्थितियों के उतार-चढ़ाव के कारण हुआ होगा।

इस लेखमाला के कुछ लेख मारवाड़ी होने के नाते जो कटु अनुभव हुए हैं, उस मार्मिकता की अभिव्यक्ति हैं। राजनैतिक दावपेंच का एक प्रत्यक्षदर्शी होने से देश की उखड़ती राजनीति और बिखरती आर्थिक अवस्था के बारे में समय-समय पर जब सोचने बैठा तो अन्तर के विचार-संघर्ष कागज पर उतर आये। संभव है, निकट के व्यक्तियों को भी इनसे कुछ आघात पहुँचा हो—तो ऐसा अनचाहे, अनजाने में ही हुआ है।

"कुछ अपनी कुछ जगकी" कहकर देश की वर्तमान—सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक—समस्याओं को पाठकों के विचारार्थ रख रहा हूँ। किसी व्यक्ति विशेष के प्रति दुर्भावना की दृष्टि से नहीं।

इस पुस्तक में वर्णित घटनाओं का उल्लेख करते समय औचित्य की दृष्टि से कहीं-कहीं नाम और स्थान में परिवर्तन किये गये हैं, लेकिन घटनाएँ सही हैं एवं तथ्य में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है।

लेख-सूची

जी, मैं मारवाड़ी हूँ !

कहा जाता है कि लगातार एक दशक (१० वर्ष) तक किसी एक स्थान पर रह जाने से वहाँ के पूरे नागरिक अधिकार मिल जाते हैं यदि जन्म भी उसी स्थान का हो, तब तो किसी प्रकार के भेद-भाव का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी परम्परा में, विश्व के सबसे धनी देश अमेरिका और स्वीडेन को अपने यहाँ बसे हुए भारत के सिक्खों और अफ्रीका के नीग्रो को पूरे नागरिक अधिकार देने पड़े हैं। मैंने अमेरिका के सैन फ्रांसिसको और लॉस एजंल्स में देखा कि वहाँ लाखों चीनी, जापानी, नीग्रो और भारतीय बसे हुए हैं तथा उन्हें विश्व के उस सर्वाधिक धनी और समृद्ध अंचल के पूरे नागरिक अधिकार प्राप्त हैं। इनमें से कई तो वहाँ के अच्छे व्यापारियों में गिने जाते हैं।

खेद है कि भारत में कहीं-कहीं इसके ठीक विपरीत रूप मिलता है और वह भी अपने देशवासियों के लिए। कई एक प्रान्तों में वहाँ बसे हुए अन्य प्रान्तों के लोगों के विरुद्ध दूषित एवं भ्रांत धारणाएँ या भावनाएँ उत्पन्न की जा रही हैं। इसके लक्ष्य विशेषकर राजस्थानी हैं जिन्हें 'मारवाड़ी' कहा जाता है।

यह सुनकर हमें दुःख होता है कि राजस्थानियों के विरुद्ध एकाध प्रान्तों में विशेषकर बंगाल में कहा जाता है कि वे हमारी धरती के नहीं हैं, (Sons of the Soil) बाहर के हैं।

मैं सोचने लगा, कि क्या बंगाल और राजस्थान एक ही मातृभूमि, भारत के अंगभूत नहीं हैं ? अगर प्रान्तीय सीमाओं को मानकर भी चलें तो भी वर्षों से राजस्थान से भिन्न प्रान्त में रहते आये 'मारवाड़ी' उस प्रान्त एवं वहाँ की धरती और निवासियों से अलग कैसे हुए ? कई परिवारों की तो पीढ़ियाँ ही वहाँ जन्मी और पनपीं। इसी तरह बिहार, यू० पी० और उड़ीसा में भी हजारों बंगाली परिवार सैकड़ों वर्षों से रहते आ रहे हैं।

मारवाड़ियों के विरुद्ध यह भी कहा जाता है कि वे केवल व्यापार में लगे रहते हैं। सामान्य जन-जीवन के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्ध कम रखते हैं।

राजस्थानी स्वभावतः उद्यमी और साहसी (Enterpriser) होते हैं। अजीविका की खोज में वे जहाँ कहीं भी गये वहाँ पनपे और सम्पन्न हुए। पर इस स्थिति में आने के लिये जो घोर परिश्रम करना पड़ा उसमें उन्हें इतना अवकाश नहीं मिल पाया कि वे स्थान विशेष के सामान्य जन-जीवन में ज्यादा भाग ले सकें। अब नयी पीढ़ी के राजस्थानी अवश्य घुल-मिल रहे हैं और आज तो बंगाल में या पंजाब में रहने वाले मारवाड़ी युवकों को जल्दी पहचान पाना मुश्किल है।

बंगाल में राजस्थानियों के विरुद्ध वातावरण बनाने में कम्यूनिस्टों का बड़ा हाथ रहा है; चूंकि व्यापारी समाज के होने के कारण राजस्थानी सदा से कांग्रेस का साथ देते रहे हैं। अधिकांश बंगाली समाज इन विषैले नारों से प्रभावित नहीं है और इसका प्रत्यक्ष प्रमाण तो यह है कि बंगाल केबिनेट में दो मन्त्री राजस्थानी हैं।

४०० वर्ष पहिले मुगल बादशाह अकबर के समय में हमारे कुछ पूर्वज राजस्थान से दिल्ली और आगरा आकर बस गये थे। उनकी गणना वहाँ के प्रतिष्ठित व्यापारियों में होती थी। यहाँ तक कि उनकी आव-भगत बादशाह के यहाँ भी थी। १७ वीं सदी में बंगाल की हाकिमी जब मुर्शीदकुली खाँ को मिली तो वह अपने साथ आगरे से कुछ विश्वस्त राजस्थानियों को रसद और दूकानदारी के काम के लिये बंगाल ले आया क्योंकि हिसाब-किताब, मेहनत और तौल-जोख में उनकी साख से नवाब बहुत प्रभावित था। इन्हीं राजस्थानियों ने बंगाल में अपने-अपने व्यवसाय को जमाया।

१८ वीं सदी के बाद तो, बंगाल के इतिहास की हर परत में जगत् सेठों के घराने का वर्णन है। उनकी हुण्डी और बीमा की साख भारत में ही नहीं, विदेशों में भी थी। वे नवाब के अर्थ-मन्त्री के सिवाय प्रमुख सलाहकार भी थे। यहाँ तक कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी को भी बहुत बार उनकी कृपा पर निर्भर रहना पड़ता था।

कई बार मराठे स्वर्णभूमि बंगाल की प्रसिद्धि सुनकर बड़ी-बड़ी फौजों के

साथ यहाँ लूट-पाट के लिये आये, परन्तु जगत् सेठों ने करोड़ों रुपये अपने पास से देकर उन्हें वापस कर दिया और गरीब जनता को उनके अत्याचारों से बचा लिया।

नवाब सिराजुद्दौला के समय जगत् सेठ घराने में सेठ अमींचन्द थे। ये शिताबचन्द और फतेहचन्द के बाद हुए। अमींचन्द को इतिहासकारों ने विश्वासघाती और देशद्रोही बताया है क्योंकि उन्होंने ईस्ट इण्डिया कम्पनी और सिराजुद्दौला के संघर्ष में कम्पनी का साथ दिया था। परन्तु तथ्य तो यह है कि इसके पीछे देश-द्रोह या विश्वासघात की बात नहीं थी बल्कि उनके सामने नवाब ने ही ऐसी हालत पैदा कर दी थी कि कम्पनी का साथ देने के सिवाय अन्य कोई चारा नहीं रह गया था।

नवाब अलीवर्दी खाँ के लाड़-प्यार से सिराजुद्दौला ऐयाश और जिद्दी हो गया था और नवाब के मरने के बाद कुछ चाटुकार उसके मुँह लगे हो गये जो जगत् सेठ से ईर्ष्या और द्वेष रखते थे। सेठ अमींचन्द की एक विधवा अनुपम सुन्दरी पुत्री थी। सिराजुद्दौला ने एक दिन उनकी पुत्री के बारे में घृणित प्रस्ताव भेजा और न मानने पर धमकी दी। सेठ अमींचन्द के सामने उस समय दो ही रास्ते रह गये थे या तो नवाब का प्रस्ताव मान-कर अपनी रोती-बिलखती पुत्री को उसके हरम में भेजकर उसका कृपा-पात्र बने रहना या फिर अपनी मान-मर्यादा बचाने के लिये ईस्ट इण्डिया कम्पनी की शरण लेना।

वे इन दिनों यह भी महसूस करने लगे थे कि नवाब की बढ़ती हुई भोग-लिप्सा के कारण किसी भी भले घर की युवती की इज्जत सुरक्षित नहीं है और उन्हें आये दिन इस प्रकार की शिकायतें सुनने को मिलती थीं। इसलिए उन्होंने ऐसे व्यक्ति के हाथ में देश का शासन रहने देना किसी भी हालत में सुरक्षित नहीं समझा। उस समय कम्पनी की शक्ति नवाब के सामने नगण्य थी, परन्तु सेठ अमींचन्द ने मान-मर्यादा और धन-सम्पत्ति की बड़ी जोखिम उठाकर भी कम्पनी का साथ दिया। फलस्वरूप पलासी के युद्ध में नवाब की करारी हार हुई। इसके बाद किसी ने नवाब की हत्या कर दी। परिस्थितियों से विवश होकर सेठ अमींचन्द को नवाब के विरुद्ध

जाना पड़ा था पर उसके मरने के बाद उन्होंने उसके परिवारवालों की हर प्रकार से सहायता की और देखभाल भी की।

१९ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जगत्-सेठों के सिवाय प्रवासी मारवाड़ियों की बहुत-सी फर्में मुर्शिदाबाद, कलकत्ता और आसाम में स्थापित हो गयी थीं। इनका नियम था कि कोई भी राजस्थानी युवक कलकत्ते या आसाम में उपार्जन के लिए आकर उनकी गद्दी में ठहर और खा-पी सकता था। उसके साथ उनका व्यवहार इतना प्रेम और सौजन्य का होता था कि उसे इसमें संकोच का अनुभव नहीं होता। इसके सिवाय कारोबार के लिए भी उसे इनके यहाँ से ५०० या १००० रुपये बिना ब्याज के उधार मिल जाते थे ताकि वह अपनी कपड़े या गल्ले की छोटी-सी दूकान कर ले। दूसरे व्यापारी और दूकानदार भी स्थापना (मुहूर्त) के समय कुछ-न-कुछ रकम उसके यहाँ जमा करा देते थे। इस प्रकार मेहनत और ईमानदारी से कुछ वर्षों में उसका व्यवसाय जम जाता था। अब भी आसाम के प्रत्येक बड़े शहर में एक बड़ा बासा (सबसे पहले स्थापित फर्म) होता है, जहाँ बाहर से आये हुए लोग निस्संकोच ठहरते और भोजन करते हैं, यद्यपि अब यह प्रथा शिथिल होती जा रही है।

इस प्रकार मेहनत और मेलजोल से राजस्थानियों ने अपने पाँव सुदूर प्रान्तों में जमाये तथा वाणिज्य व्यवसाय और उद्योग की दृष्टि से उन स्थानों को उन्नत किया एवं खुद भी सम्पन्न हुए। उद्योग व्यापार के सिवाय मारवाड़ियों ने कभी सरकारी नौकरी, वकालत या डाक्टरी की तरफ ध्यान ही नहीं दिया।

२० वीं शताब्दी में प्रथम महायुद्ध के बाद मारवाड़ी आयात-निर्यात करने लगे तथा उद्योग-धन्धे स्थापित करने लगे। प्रान्तों की राजनीतिक व सामाजिक गतिविधि में भी भाग लेने लगे। बंगाल में नमक सत्याग्रह और विलायती कपड़ों की दूकानों पर धरने के सिलसिले में न केवल मारवाड़ी पुरुष बल्कि महिलाएँ भी जेल गयीं। जिस प्रान्त में कमाते और रहते आये हैं उस प्रान्त के धार्मिक कार्यों में मारवाड़ी मुक्तहस्त से खर्च करते रहे हैं। आसाम, बंगाल और बिहार के प्रत्येक शहर तथा कस्बे में इनके

द्वारा सञ्चालित स्कूलें, पुस्तकालय और अस्पताल एक नहीं, अनेक देखने को मिलेंगे।

स्वराज्य-प्राप्ति के बाद भारत छोड़कर जाते समय अंग्रेजों से उनका अधिकांश उद्योग एवं कारवार राजस्थानियों के हाथ में आया और उन्होंने इसे न केवल नष्ट होने से बचाया बल्कि और भी बढ़ाया। आज तो भारत के औद्योगिक प्रान्तों में इनका प्रमुख स्थान है। भारत के विभिन्न भागों में राजस्थानियों का कम-वेसी यही इतिहास है।

विकास के इस दौर में राजस्थानी स्थानीय जन-जीवन और सामाजिक मेल-मिलाप में कम हिस्सा ले पाये। (यह बात अन्य प्रवासियों—पंजाबी, गुजराती, सिंधी आदि के सम्बन्ध में भी लागू होती है)। इसे हम त्रुटि या खामी मान सकते हैं। यद्यपि बंगाल में राजस्थानियों का इतिहास लम्बा है पर वे बंगला भाषा और साहित्य का अध्ययन नहीं कर सके तथा खान-पान की विभिन्नता के कारण न आपस में शादी-विवाह ही कर सके। पर केवल इतने के लिए मारवाड़ी समाज के अन्य अवदानों को भुला देना न्याय-सङ्गत नहीं है विशेषकर आजकी परिस्थितियों में जब राष्ट्र को भावात्मक एकता की बहुत आवश्यकता है।

पिछले दिनों बंगाल के एक प्रमुख दैनिक पत्र में एक लेख छपा था जिसका भावार्थ यह था कि मारवाड़ियों ने यहाँ के प्रायः सभी उद्योग-धन्धे अपने कब्जे में ले लिये हैं और उनमें ज्यादातर कर्मचारी और अफसर अन्य प्रान्तों के रखते हैं। इस विषय में हमें कहना है कि जहाँतक उद्योग-धन्धों का सवाल है वह जबरन तो लिये नहीं जा सकते आपस के समझौते और बातचीत से खरीदे-वेचे जाते हैं, इसके लिए न केवल पूंजी बल्कि रुचि, परिश्रम और साहस की जरूरत होती है। कर्मचारी वर्ग तो शायद आफिसों में उसी प्रान्त के ही अधिकतर हैं। मजदूर जरूर उत्तर-प्रदेश, उड़ीसा और बिहार के होते हैं, क्योंकि उनका काम कड़ी मेहनत माँगता है।

हम प्रतिष्ठित व प्रभावशाली समाचार-पत्रों और पत्रिकाओं से निवेदन करेंगे कि यदि उपरोक्त प्रकार का प्रचार होता है तो उसकी प्रतिक्रिया

अन्य प्रान्तों में भी जरूर होगी जो देश के सङ्गठन के लिए बहुत ही अवांछनीय है।

कुछ लोगों के गलत प्रचार से यह भ्रान्तिपूर्ण भावना हो जाती है कि मारवाड़ी समाज का उद्देश्य येन-केन-प्रकारेण केवल पैसा कमाना है और देश के विकास और स्वतन्त्रता में उनका कोई योगदान नहीं रहा है, परन्तु आजतक के भारतीय इतिहास के पृष्ठों पर नजर डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐसे प्रचारों में द्वेष की भावना ही अधिक है। राजस्थान के सपूतों ने राष्ट्र की एकता और अखण्डता की रक्षा के लिए सदियों तक संघर्ष किया है। धन और जन की अपार-क्षति उठाकर भी वे प्राणों की आहुति देने में न हिचके। राणा सांगा और प्रताप का शौर्य इस बात का साक्षी है! वीर दुर्गादास राठौर का त्याग और मीरा की भक्ति को किसी प्रकार भी भुलाया नहीं जा सकता। अगर हम आज के युग को भी देखें तो राष्ट्र के कल्याण और स्वाधीनता के लिए हजारों की संख्या में राजस्थानी युवक और युवतियों के जेल जाने और कठिन यातनाओं के सहने के उदाहरण एक नहीं अनेक मिलेंगे।

एक दिन मैं एस्प्लेनेड के मैदान से गुजर रहा था। कुछ उच्छृङ्खल युवकों ने मेरी ओर ताना कसा कि "यह मारवाड़ी है।" मुझे बुरा नहीं लगा और मैंने गर्व के साथ कहा "जी मैं मारवाड़ी हूँ।"

पिता का कर्ज

राजस्थान में चूरू एक पुराना कस्बा है। आजसे सवा सौ-डेढ़ सौ वर्ष पहले यहाँ एक प्रतिष्ठित वैश्य परिवार रहता था, जिसका मालवा में बड़े पैमाने पर व्यापार था। जब अफीम को लेकर ब्रिटेन और चीन का युद्ध हुआ तो इनको घाटा लग गया, काम बन्द हो गया और देनदारी रह गयी।

इसके बाद परिवार के स्वामी सेठ उजागरमल को घर के बाहर निकलते कभी नहीं देखा गया। कभी-कदास कोई आदमी उनसे मिलने भी गया तो उनका चेहरा नहीं देख पाया क्योंकि वे अपना मुंह चद्दर से ढँके रहते थे। इसी शोक से उनका छोटी उम्र में ही देहान्त हो गया। परिवार में उनकी विधवा पत्नी और १३ वर्ष का पुत्र रामदयाल रह गये।

गहना और जमीन-जायदाद बेचकर उजागरमल ने अपना बहुत-सा कर्ज तो चुका दिया था फिर भी मरते समय कुछ कर्ज बाकी रह गया था। अन्तिम समय में उन्होंने पत्नी और पुत्र रामदयाल को एक कागज दिया जिसपर कर्जदारों के नाम और रकमें लिखी थीं। पुत्र को उनका अन्तिम आदेश था कि मेरी आत्मा को तभी शान्ति मिल पायेगी जब किसी दिन तुम यह कर्ज ब्याज समेत चुका दोगे।

दो वर्ष बाद रामदयाल का विवाह हुआ। इस मौके पर विधवा माँ ने थोड़ा बहुत कर्ज लेकर पूरी बिरादरी को न्यौता दिया। बहू की अगवानी के समय किसीने ताना कस दिया कि बाप का कर्जा तो चुका ही नहीं और विवाह में इतनी धूमधाम है ? किशोर रामदयाल को यह बात चुभ गयी और विवाह के कङ्कन-डोरे खुल भी नहीं पाये थे कि उसने सुदूरपूर्व असम जाने का निश्चय कर लिया। बहू तो अभी १३ वर्ष की बालिका थी उसे दाम्पत्य-जीवन और पति-प्रेम की जानकारी ही क्या थी ! माँ और पड़ोसियों ने रामदयाल को बहुत समझाया कि कुछ दिन ठहर जाओ और

थोड़े बड़े हो जाने पर चले जाना। पर उसने किसीकी भी न सुनी और रोती विलखती माँ और बहू को छोड़कर कुछ लोगों के साथ जो पूरब की यात्रा पर जा रहे थे, वह भी चल पड़ा।

उस समय असम की यात्रा में तीन-चार महीने लग जाते थे। ट्रेन कलकत्ते से कानपुर तक ही बनी थी। राजस्थान से कानपुर जाने में २५-३० दिन लगते थे। कलकत्ता से नौका में बैठकर असम जाने में भी डेढ़-दो महीने लग जाते थे। रास्ते में पद्मा नदी पड़ती थी जिसके तेज बहाव में कभी-कभी नौकाएँ डूब भी जाती थीं। इसके सिवाय जल-दस्युओं का भी डर बना रहता था, इसलिए कई आदमी एक साथ मिलकर और पूरा बन्दोवस्त कर असम यात्रा पर जाते थे। एकबार जाकर लोग ८-१० वर्ष की मुसाफिरी करके लौटते थे। रास्ते इतने संकटमय थे कि बहुत से लोग तो वापस ही नहीं आ पाते थे। यात्रा के समय रामदयाल के पास संबल स्वरूप एक धोती, एक लोटा और कुछ चना-चबैना था और था दृढ़ विश्वास एवं हिम्मत।

असम की आबहवा बहुत ही नम रहने के कारण, वहाँ मलेरिया और काला-ज्वर का प्रकोप बना रहता था। पर व्यापार में गुंजाइश थी, इसलिए लोग पानी की जगह चाय पीकर रहते थे। बुखार हो जाने पर दवाइयाँ खाते रहते थे। कुनैन का तो उस समय तक आविष्कार ही नहीं हुआ था।

रामदयाल को राजस्थान से तिनसुकिया (असम) पहुँचने में ४-५ महीने लग गये। वहाँ जाकर उसने कपड़े की फेरी का काम शुरू किया। सुबह कन्धे पर कपड़े लादकर गाँवों में निकलता और शाम को एक या दो रुपया कमाकर अपने डेरे पर वापस आ जाता।

इस समय तक वहाँ मारवाड़ियों की कुछ दूकानें हो गयी थीं और यह आम-रिवाज था कि नया आया हुआ कोई भी व्यक्ति निस्संकोच उनके बासे में खाना खा सकता था। जब अच्छी कमाई होने लगती तो अपनी अलग व्यवस्था कर लेता। इसके सिवाय पहले से बसे हुए मारवाड़ियों से

व्यापार में भी वाजिब सहायता और प्रोत्साहन मिलता रहता था। रामदयाल को इनका पूरा सहयोग मिला।

कड़ी मेहनत और ईमानदारी से दश वर्षों में उसने इतना रुपया कमा लिया जिससे वह अपने पिता का पूरा कर्ज ब्याज सहित चुका सका। वर्ष में एक-दो बार किसी पड़ोसी से लिखाया हुआ माँ का पत्र मिल जाता। जिसमें घर आने का तकाजा रहता था। उन दिनों बेचारी पत्नी तो पति को पत्र देने का साहस ही नहीं कर सकती थी।

इसी प्रकार ६-७ वर्ष और व्यतीत हो गये। इस बीच में रामदयाल के पास ४०-५० हजार की पूँजी हो गयी और अपनी निज की दूकान भी। एक दिन अचानक ही पत्र मिला कि उसकी माँ सख्त बीमार है और अन्तिम समय में उसको देखना चाहती है।

अपनी दूकान की सारी व्यवस्था मुनीमों को संभलाकर वह देश के लिये रवाना हुआ और जैसे आया था उसी प्रकार २-३ महीने में भिवानी पहुँचा। इस समय तक रेल लाइन कानपुरसे भिवानी तक बन गयी थी। असम आते वक्त तो रुपयों के अभाव में रामदयाल अपने घर (राजस्थान) से पैदल ही कानपुर तक आया था पर अब उसकी स्थिति अच्छी हो गयी थी, इसलिये भिवानी से ऊँट किराये पर लेकर वह अपने गाँव के लिये रवाना हुआ। १६-१७ वर्ष के लम्बे समय के बाद वह राजस्थान लौट रहा था। हरी-भरी उपजाऊ असम की भूमि से उसका इतना सान्निध्य हो गया था कि इस रेतीली मरुभूमि को एक प्रकार से भूल-सा गया था। परन्तु जैसे ही उसने बड़े-बड़े टीबों और उनकी चमचम करती हुई बालू को देखा तो उसे अपने बचपन के दिन याद आ गये जब वह इनपर हम उम्र संगी-साथियों के साथ खेलता और लोटता था। उसका मन हुआ कि ऊँट पर से इसी दम उतर पड़े और एक बार फिर जी भरकर इस रेत का आलिंगन करे।

चार दिन बाद एक सुबह जब वह अपने गाँव की कांकड़ (किनारे) पर पहुँचा तो देखा कि कुछ व्यक्ति एक सधवा-स्त्री की अर्थी लिये हुए जा रहे हैं। रामदयाल १६-१७ वर्ष के बाद गाँव लौटा था इसलिये न तो वह किसी

को पहचानता था और न कोई उसे ही। अर्थी के साथ जा रहे लोग आपस में बातें कर रहे थे कि इस बेचारी (मृत महिला) ने जीवन में देखा ही क्या ? १७ वर्ष पहले पति ब्याह होते ही परदेश चला गया जो अभी तक वापस नहीं लौटा। एक-मात्र सास का सहारा था वह भी तीन महीने पहिले इसे सदा के लिये छोड़ गयी !

रामदयाल के मन में कुछ आशंका और जिज्ञासा हुई और उसने लोगों से पूछा तो पता चला कि यह तो उसकी अपनी पत्नी की ही अर्थी है।

जिस वात्सल्यमयी माँ और स्नेहमयी पत्नी से मिलने की आकांक्षा लिये वह आया था, वे दोनों ही अब नहीं रहीं। जो कुछ शेष रहा, वह था गाँव-पड़ोस के लोगों के कटु वचन और निन्दा स्तुति। रामदयाल बिना किसी को अपना परिचय दिये उल्टे पैरों चुपचाप वापस लौट गया। उसका पैत्रिक मकान अभी भी था परन्तु सूने मकान में जाने की हिम्मत नहीं हुई। इतने बड़े संकट में भी उसे सबसे बड़ा संतोष और सहारा इसी बात का था कि उसने अपने पिता का सारा कर्ज ब्याज सहित चुका दिया था।

रामदयाल के पिता ने उसे केवल एक कागज दिया था जिस पर लेनदारों के नाम और रकमें लिखी थी। उस समय न तो स्टाम्प के कागज पर ही कर्ज की लिखा-पढ़ी होती थी और न कोई गवाह या जामिन। परन्तु वे लोग सबसे बड़ी लिखा-पढ़ी और गवाह-जामिन तो ईश्वर को मानते थे और पिता पितामह का कर्ज चुकाये बगैर सार्वजनिक उत्सवों में भी कभी-कदास ही शामिल होते थे। ऐसे अनेक उदाहरण मारवाड़ी समाज में मिलेंगे कि ३०-४० वर्ष बाद तक पुत्र और पौत्रों ने अपने पिता और पितामह का कर्ज चुकाया है।

यही कारण है कि हाल के वर्षों तक हमारे पूर्वजों के बिना मात्रा के हरफों में लिखे बही-खातों की अदालत में साख और इज्जत थी।

———

मारवाड़ी समाज की नयी पीढ़ी

बंगाल के प्रसिद्ध साहित्यकार श्री विमल मित्र ने अपनी पुस्तक "साहब बीबी गुलाम" में आजसे सौ सवासौ वर्ष पहले के धनी बंगाली व्यवसायी युवकों के दैनिक जीवन की झाँकी उपस्थित की है।

उस समय का अधिकांश वाणिज्य व्यवसाय मल्लिक, सील, लाहा और बैसाक आदि बंगाली परिवारों में बँटा हुआ था। उनके यहाँ पाट और गल्ले आदि की आढ़त के सिवाय जहाजों पर माल लादने-उतारने के ठेके, फौज को रसद सप्लाई और विलायती आफिसों की बेनियनशिप थी। उनके पुत्रों ने जमे-जमाये व्यापार को सम्हालना छोड़ दिया और अधिकांश समय शराब और ऐयाशी में देने लगे। धीरे-धीरे सारा का सारा कारबार नष्ट हो गया।

पूर्वजों ने समझदारी से काम लिया और अधिकांश सम्पत्ति को देवोत्तर कर दिया। इसलिए सब कुछ चले जानेपर भी परिवार को भूखे रहने की नौबत नहीं आयी।

उसके बाद खत्री समाज की बढ़ोत्तरी हुई और विदेशी फर्मों की बेनियनशिप के सिवाय दूसरे कई प्रकार के व्यापार उनकी कोठियों में होने लगे। कुछ दिनों तक तो उनकी समृद्धि में चार-चांद लगे रहे परन्तु आगे जाकर वही दशा उनकी भी हुई। प्रति शुक्रवार को चुने हुए मुसाहिबों को लेकर, हर प्रकार की विलास सामग्री के साथ लिलुआ या दमदम के बगीचों में जाते और सोमवार की सुबह अलसाये हुए मन और थके हुए तनके साथ वापस आते। बिना सम्हाल के धीरे-धीरे कारबार बिगड़ने लगा। आफिसों के बड़े साहबों के द्वारा बार-बार की चेतावनी का भी कोई असर नहीं हुआ। आखिरकार बेनियनशिप उन राजस्थानी युवकों को मिली जो उनकी आफिसों में पुरजा चुकाने या दलाली का काम करते थे। इन्होंने अपने पुराने मालिकों के चढ़ाव-उतार को देख रखा था इसलिए विलासिता से अलग रहकर कड़ी मेहनत और ईमानदारी से काम करने लगे इसलिए

उनकी आफिसों का काम भी बहुत आगे बढ़ा और साथ ही समाज की प्रतिष्ठा भी।

उसीका फल है कि आज देश का अधिकांश वाणिज्य एवं उद्योग उनकी सन्तानों के हाथ में है। इतने बड़े औद्योगिक साम्राज्य के पीछे उस समाज का बहुत ही उज्ज्वल इतिहास है। आजसे सौ सवासौ वर्ष पहले जब न तो रेल थी और न पानी के जहाज ही, उस समय इनके पूर्वज बिना किसी प्रकार के सहारे के राजस्थान से बंगाल और आसाम की सुदूर यात्रा, अनेक प्रकार के कष्ट सहते हुए चार-पाँच महीने में पूरी करते थे और छः-आठ वर्ष की लम्बी मुसाफिरी के बाद वापस घर लौटते थे।

हमें भी बहुत से ऐसे महापुरुषों को देखने-सुनने का मौका मिला है जो बहुत ही साधारण स्थिति से ऊँचे उठकर चोटी पर पहुँचे हैं।

सर्वप्रथम तो हमारे स्व० प्रधानमंत्री श्री शास्त्रीजी का ही उदाहरण है जो यह कहने में कोई संकोच नहीं करते थे कि कई बार एक पैसा नाव के भाड़े का न होने के कारण उन्हें गंगा के उस पार से. काशी में पढ़ने के लिए तैर कर जाना पड़ता था। इसी प्रकार इन्टुक के वर्तमान उपाध्यक्ष, भूतपूर्व उपश्रममंत्री और विशिष्ट संसद सदस्य श्री आबिदअली भी एक कपड़े की मिल में साधारण मजदूर थे।

विश्वमित्र सञ्चालक स्वर्गीय श्री मूलचन्द अग्रवाल भी बहुत साधारण स्थिति से ऊँचे उठकर अपने जीवनकाल में ही भारत के समाचार-पत्र सञ्चालकों में अग्रणी और आदरणीय हो गये थे। वे कहा करते थे कि प्रतिदिन १८-२० घंटा काम करना तो उनके लिए साधारण-सी बात थी। यहाँ तक कि कभी-कभी तो उन्हें पत्र की कटाई तथा बँधाई भी स्वयं करनी पड़ती थी।

व्यापारी समाज में भी ऐसे कई उदाहरण मिल जायँगे। प्रसिद्ध चाय उत्पादक श्री हनुमानबक्स कनोई आसाम में आजसे ६५ वर्ष पूर्व दर्जी का काम करते थे। उसके बाद उन्होंने एक छोटी-सी मोदीखाने की दूकान की थी। कुछ वर्षों बाद थोड़ी-सी जमीन में चाय की खेती की और मशीनों के अभाव में कड़ाहियों में चाय गर्म करके सुखाते थे। आज उनके

फर्म का कठिन परिश्रम और सच्चे व्यवहार के कारण भारत के चाय उत्पादकों में विशिष्ट स्थान है। विदेशों से आये हुए चाय विशेषज्ञ भी उनके गणेशवाड़ी चाय बगीचे को देखने जाते हैं जिसमें प्रति एकड़ चाय का उत्पादन देश में सबसे ज्यादा है।

विश्व प्रसिद्ध डिजल और बिजली की मोटरों के एवं इञ्जिनों के निर्माता श्री किरलोस्कर भी एक साधारण कारखाने में मिस्त्री थे और अनेक सुप्रसिद्ध कपड़े की मिलों के मालिक स्वर्गीय मफतलाल कपड़े की फेरी करते थे।

इन सब उदाहरणों से हमारा उद्देश्य नयी पीढ़ी के मारवाड़ी समाज के युवकों के बारे में लिखना है। जिनके पास अपने पितामहों और पिताओं का अर्जित किया हुआ धन, यश और जमा-जमाया कारबार है, साथ ही विदेशों के अच्छे फर्मों से व्यापारिक एवं औद्योगिक सम्बन्ध भी। पर खेद है कि आज के अधिकांश धनी युवक उन बंगाली और खत्री समाज की चाल-ढाल को अपनाते जा रहे हैं जिनके बारे में हम पहले लिख चुके हैं। हाँ, समय और साधन दोनों ही बदल गये हैं इसलिए ७०-८० वर्षों पहले के मौज-शौक के तौर-तरीकों में फर्क जरूर आ गया है।

मैं नई दिल्ली में विज्ञान-भवन के सामने के फ्लैट में रहता हूँ। इस भवन में जलसे और चेम्बरों की मीटिंगें होती रहती हैं। वहाँ प्रायः ही देखता हूँ कि कलकत्ते और बम्बई के युवक बहुत बड़ी-बड़ी फैशनेबुल मोटरों में साथ में एक दो पंजाबी सजे-सजाये युवकों को लिये हुए (जो उनके फर्मों के दिल्ली रिप्रेजेन्टेटिव होते हैं) उन मीटिंगों या जलसों में शामिल होने को आते रहते हैं। इनमें से कई जलसों में संसद सदस्यों को भी बुलाया जाता है इसलिये उन लोगों से वहाँ मिलना हो जाता है। इसके सिवाय संसद या राष्ट्रपति भवन देखने की पास के लिये या और किसी काम से भी उनसे मिलना होता रहता है।

वैसे दिल्ली में प्राइवेट कारों का किराया ३०-३५ रुपया प्रति दिन है परन्तु जिन बड़ी गाड़ियों को ये रखते हैं उनका ६५-७० रुपया किराया है। अशोक होटल जिसमें ये लोग ठहरते हैं उसका भी ८०-१०० रुपया प्रति दिन

पड़ जाता है। इसके सिवाय क्लबों, थियेटरों तथा अनेक प्रकार के खर्च अलग। चार-पाँच दिन की दिल्ली की एक यात्रा में, हवाई जहाज तथा अन्य सब खर्च मिलाकर, दो-ढाई हजार तक लग जाते हैं। जिन मीटिंगों में ये जाते हैं उनमें न तो इनमें से अधिकांश को कोई पूछता ही है और न इनको वहाँ कुछ सीखने समझने की जिज्ञासा ही होती है। इसके सिवाय अनेक प्रकार की दूसरी बातें भी सुनने को मिलती हैं जिनका वर्णन यहाँ न करना ही अच्छा होगा।

कलकत्ते का एक युवक मिला, जिसके पिताजी से मेरा अच्छा परिचय था। उसकी सूट के बारे में बात हुई तो पता चला कि ऊँट के बालों (Camel's hair) की है और कीमत २२००), २३००) रुपया ! क्योंकि आयात के प्रतिबन्ध के कारण ऐसा कपड़ा भारत में बहुत कम आ पाता है। मैंने हिसाब लगाया कि उस एक सूट की लागत मेरे डेढ़ सौ धोती, गंजी और कुरतों के बराबर थी।

एक दिन एक युवक मित्र द्वारा ला-बला (La-belle) नाम के प्रसिद्ध रेस्तराँ में निमंत्रित हुआ। सब मिलाकर ८-१० व्यक्ति होंगे जिनमें दो तीन उसके विदेशी व्यापारी मित्र भी थे। यह जानते हुए भी कि ऐसी जगह में खाने-पीने की चीजों के बारे में पूछना सभ्यता से बाहर माना जाता है, मन नहीं मानता और आमिष निरामिष के बारे में पूछ लेता हूँ। सूप के बारे में पूछा तो पता चला कि समुद्र के बीच में किसी टापू की चिड़िया के घोंसले का है; जो इस रेस्तराँ की विशेष तैयारी मानी जाती है। यह घोंसला आमिष है या निरामिष फिर से पूछना ठीक नहीं समझा और सूप नहीं लिया। खाने-पीने पर सारा खर्च करीब पाँच-सौ रुपया हुआ जिसमें आधा तो केवल चिड़ियों के घोंसले के सूप का ही था। मन में अपने को भी दोषी अनुभव करने लगा कि मेरे ऊपर भी तो पचास रुपये का खर्च आ गया।

इन बाइस सौ रुपये की ऊँट के बालों की सूट पहिनने वालों तथा ५०) रुपये के चिड़ियों के घोंसले का सूप पीने वाले युवकों से यह कहने का मन होता है कि उनकी सही कीमत तो उसी हालत में ही आँकी जा

सकती है जब कि वे अपने पूर्वजों की तरह या आजकल के दूसरे गरीब युवकों की तरह अनजानी जगह में जाकर कितना कमा पायेंगे।

मुझे इसी समाज का एक युवक कुछ दिनों पहले कलकत्ते की बेंटिक स्ट्रीट में मिला। नौकरी छूटने के बाद तीन सौ रुपयों की पूंजी से पुराने लोहे के टुकड़े सियालदह, कार्नवालिस स्ट्रीट या इन्टाली से ठेले पर लादकर ५-६ मील प्रति-दिन पैदल चलकर हावड़ा के किसी कारखाने में ले जाता है। वहाँ उनसे मोटरों के चक्कों के ढक्कन बनवा कर दूसरे कारखाने में पालिस करवा कर यहाँ की दूकानों में बिक्री करता है। इस कड़ी मेहनत से उसे २५०)-३००) रुपया मासिक मिल जाते हैं। जिनमें से एक सौ रुपया यहाँ रहने और खाने-खर्च के बाद देकर डेढ़ सौ दो सौ अपने गाँव भेज देता है जहाँ उसकी स्त्री, माँ और तीन बच्चे हैं।

भारतीय जीवन का आदर्श सैकड़ों हजारों वर्षों से श्रम, संयम और संतोष का रहा है। साथ ही व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के लिये भी हमें बहुत प्रकार के बलिदान करने पड़े हैं। इसलिये हमारी संस्कृति और समाज के लिये साम्यवाद किसी भी प्रकार वांछनीय नहीं है, परन्तु हमारी आज की स्थिति भी ज्यादा दिन नहीं रह पायेगी। क्योंकि एक ओर तो नाना प्रकार के व्यसनों में पानी की तरह धन बहाया जाता है और दूसरी तरफ देश के करोड़ों बच्चे और बुड्ढों को भूखे पेट और नंगे तन रहना पड़ता है।

विषमता सारे संसार में ही है, परन्तु जब वह सीमा को लांघ जाती है तो फिर या तो रूस और चीन की तरह साम्यवाद आता है या अन्य अरब देशों और पाकिस्तान की तरह फौजी तानाशाही। काश, समय रहते हम चेत जायँ और अपनी आवश्यकता एवं विचारों को संयमित करके इस प्रकार का प्रदर्शन न करें जिससे दूसरों के मन में दुःख और ईर्षा पैदा हो।

नयी पीढ़ी का दूसरा पहलू

मैंने 'मारवाड़ी समाज की नयी पीढ़ी किस तरफ' शीर्षक से एक लेख लिखा था। लेख के पक्ष में और विपक्ष में काफी चर्चा हुई। यहाँ तक कि बम्बई तथा राजस्थान से भी पत्र आये। इससे दो अनुभव हुए। पहला तो यह कि समाज के विभिन्न क्षेत्र के लोगों में इस समस्या पर अच्छे पैमाने पर दिलचस्पी है, क्योंकि सुदूर क्षेत्रों में यह लेख भेजा गया और इससे यह भी सिद्ध हुआ कि हिन्दी समाचार-पत्र भी काफी बड़ी संख्या में विभिन्न क्षेत्रों में पढ़े जाते हैं।

उक्त लेख में किसी के प्रति आक्षेप आदि का तो प्रश्न ही नहीं था, क्योंकि जिन लोगों का चित्रण किया था वे तो सब अपने ही हैं। हाँ, कई दिनों से मनमें एक प्रश्न उठ रहा था उसको लोगों के सामने विचारार्थ रखा था।

जिन लोगों ने इस बारे में अपने विचार बताये या सुझाव रक्खे, उनमें श्री कालीप्रसाद खेतान के तथा विश्वमित्र के "मैदान में मजलिस" के विशेष विचारणीय हैं। खेतानजी विभिन्न समाज के लोगों से मिलते रहते हैं, साथ ही बहुपठित और अनेक देशों में घूमे हुए हैं इसलिए उनके अनुभव भी बहुमूल्य हैं। उन्होंने युवकों के जीवन के दूसरे पहलू के बारे में लिखा वह हर समय में और हर समाज में रहा है। सौ-सवा सौ वर्ष पहले के बंगाली समाज के एक पक्ष का चित्रण मैंने अपने लेख में किया था परन्तु उस समय भी श्री रामकृष्ण परमहंस, केशवचन्द्र सेन, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, राममोहन राय और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आदि जैसे महापुरुष मौजूद थे और उन्हीं के पुण्य कृत्यों से आज का बंगाली समाज व्यापार और उद्योग में पिछड़ा होने पर भी शिक्षा, साहित्य, कला, राजनीति, कानून और चिकित्सा क्षेत्रों में विशिष्ट स्थान रखता है।

इसी प्रकार आज भी जहाँ मारवाड़ी समाज के कतिपय धनाढ्य युवकों में अत्यधिक फिज़ूल खर्ची तथा फैशन-परस्ती आ गयी है, वहाँ ऐसे उदाहरण भी अनेक हैं कि सम्पन्न तथा मध्यम दोनों तबकों के युवकों में अच्छी

श्रेणी के डाक्टर, इञ्जीनियर, अर्थ-शास्त्री, प्रोफेसर और कानून-वित्त मिल जायंगे। १९६१ में हमलोग जब रूस गये, वहाँ मास्को में भी हमें मारवाड़ी युवक शिक्षार्थी मिले और पिछले वर्ष वाशिंगटन और शिकागो में भी मिले जो ऊंची इञ्जीनियरिंग शिक्षा के साथ-साथ बचत के समय में ढाई-तीन हजार रुपये महीना उपार्जन कर लेते थे, जिससे वहाँ का खर्च निकालकर घर भेजने को भी बचा लेते थे। अच्छी श्रेणी के लेखक, कवि, कलाकार, डाक्टर और समाज-सेवी भी हमारे युवकों में हैं। इन युवकों के प्रयत्नों से ही हम अपना स्थान न केवल उद्योग व्यापार में ही बल्कि दूसरी विभिन्न प्रवृत्तियों में भी सुरक्षित रख पाये हैं।

दूसरे विचार जो श्री सिंघी द्वारा व्यक्त किये गये हैं, उनमें भी दो मत की बात नहीं है। हमें सूट पहनने या रेस्तराँ में खाने का विरोध नहीं है, किन्तु विरोध है चोरी से आयात किये हुए अत्यन्त कीमती कपड़े के सूट से और २० रु० प्रति कप के समुद्र की चिड़िया के घोंसले के सूप से।

जहाँ देश में आवश्यक उद्योगों और बीमारों की दवाई के लिये भी आयात राशि नहीं मिल पाती, वहाँ ऐसे वाहियात कामों में विदेशी मुद्रा खर्च करना एक प्रकार से देशद्रोह है। अब रही अपने पर कम खर्च करके दूसरे गरीब लोगों और संस्थाओं को सहायता देना। मेरी राय में तो यह भी तभी संभव हो सकेगा जबकि हमारे धनिक युवक दूसरे गरीब लोगों से मिल-जुलकर सहानुभूतिपूर्वक उनकी आवश्यकताएँ सुनेंगे अथवा सार्वजनिक संस्थाओं में भाग लेगें। इससे उनको जो एक प्रकार की "मानुष गन्ध" आने लगी है उसमें कमी आयेगी; साथ ही देश में बड़े पैमाने पर फैली हुई गरीबी और भूखमरी को भी नजदीक से देखने का मौका मिलेगा।

———

समय बदला पर हम नहीं

आजकल बम्बई और कलकत्ते में आम-चर्चा है कि उद्योग, व्यापार मंदा है। जमीनों और मकानों की कीमतें घट रही हैं—चीजों की बिक्री कम है, आदि आदि।

'अकाल में अधिक मास' की कहावत के अनुसार इस मंदी के साथ-साथ बिहार, पूर्वी उत्तर-प्रदेश और राजस्थान के कुछ हिस्सों में भयंकर अकाल भी पड़ गया, जिससे हजारों पशु भूख और प्यास से मर जायँगे। भोजन की कमी के कारण मनुष्यों और बच्चों का जीवन घटकर कंकाल सदृश्य रह जायगा।

विभिन्न सेवा संस्थाओं ने वहाँ राहत कार्य शुरू किया है और इसके लिये धनी-वर्ग थोड़ा बहुत दान भी दे देते हैं। परन्तु खेद है कि आज भी उनकी अपनी मौज-शौक के खर्चे में किसी प्रकार की कमी तो आयी ही नहीं—कुछ-न-कुछ बढ़ोतरी ही हुई है। अगर गाँव और पड़ोस के लोग पानी के बिना मर रहे हों तो तैरने के लिए पानी के तालाब को लोग किसी भी हालत में नहीं रहने देंगे। हाँ, १९४३ में कलकत्ते की सड़कों पर लाखों व्यक्ति भूख से मर गये थे—जब कि सामने की दूकानों पर सैकड़ों मन मिठाई सजी रहती थी, परन्तु आज १९६७ है—न कि १९४३।

मेरे एक मित्र जो प्रसिद्ध पत्र-संचालक के सिवाय सब प्रकार से साधन सम्पन्न हैं—पिछले दिनों सपत्नीक दिल्ली आये। वे एक मित्र के फ्लैट में ठहरे थे। उनका आतिथ्य करने में हर व्यक्ति अपने को अनुगृहीत मानता, अतः सब तरह की सुविधाएँ और आराम उनके लिए वहाँ उपलब्ध थे। उसी समय फेडरेशन की मीटिंग थी, जिसमें सम्मिलित होने के लिए कलकत्ते और बम्बई से बहुत से व्यक्ति आये थे। जिनमें कुछ तो सदस्य थे, ज्यादा तमाशबीन। वे भी अगर चाहते तो उनको भी दिल्ली में इस तरह का आतिथ्य मिल जाता, क्योंकि उनके बहुत से सम्बन्धी और परिचित मित्र वहाँ हैं और उन दिनों में तो संसद का अधिवेशन भी चालू था।

परन्तु उन सबको तो उबेराय इण्टरनेशनल में ही ठहरना था, जो इस समय भारत में सबसे मँहगा होटल है और जहाँ केवल चाय का चार्ज लगता है—डेढ़ रुपया प्रति कप, टिप अलग। यह भी सुना गया कि वहाँ जगह की माँग इतनी थी कि रिजर्वेशन के लिए सिफारिश करनी पड़ती थी।

मैंने अपने मित्र से कहा कि जब साधारण स्थिति के नवयुवक भी उबेराय या अशोक होटल में ठहरते हैं, तो आप लोग वहाँ क्यों नहीं ठहरें। सबसे एक जगह ही मिलना-जुलना हो जाता और इन सब होटलों में ठहरने से बड़प्पन की शान भी है।

उनका जवाब था कि मिलना-जुलना तो कलकत्ते में सार्वजनिक उत्सवों या विवाह-शादियों में इन लोगों से होता ही रहता है और जहाँतक बड़प्पन और शान का सवाल है—वह फजूल-खर्ची और दिखावे में है नहीं। हाँ, इसमें एक प्रकार से स्वयं की हीन-भावना (Inferiority complex) की पूर्ति जरूर हो जाती है। मेरे यहाँ से ही उन्होंने दो-तीन भारत-प्रसिद्ध व्यक्तियों को फोन करके मिलने का समय निश्चित किया। मुझे अपने प्रश्न का उत्तर स्वयं मिल गया, क्योंकि उन बड़ी-बड़ी मोटरों और आलीशान होटलों में ठहरने वालों को तो उनके सचिवों और उप-सचिवों से मिलने के लिए भी दो-चार दिन पहले समय लेना पड़ता है। कारण स्पष्ट है—वास्तव में आज धन और दिखावे का मापदण्ड ही घट रहा है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि एक गरीब नाई के पुत्र श्री कर्पूरी ठाकुर का बिहार जैसे बड़े प्रान्त का उप-मुख्यमंत्री और कई साधारण गरीब सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं का बंगाल प्रान्त में मन्त्री बनना।

इस संदर्भ में मुझे मेरे दो मित्रों की याद आ जाती है। प्रथम इस समय कैबिनेट मिनिस्टर के सिवाय देश के बड़े नेता हैं। चार वर्ष पहले वे केवल सदस्य थे परन्तु उस समय भी संसद में उनकी धाक थी। उन्होंने मुझे एक दिन भोजन का निमंत्रण दिया परन्तु घर में शायद कहना भूल गये। जब आठ बजे रात में पहुँचा तो वे कुछ सकपका गये परन्तु उसी समय बात को संभाल कर बोले—"आपके यहाँ का खाना तो कई बार खा चुका हूँ सोचा आज अपना खाना जो हम नित्य प्रति खाते हैं—आपको खिलाऊँ।

काँसे की थालियों में बिना घी की रोटियाँ, दाल और तेल की एक सब्जी थी—जो वास्तव में स्वादिष्ट लगीं। हँसकर कहने लगे मैं पहले से कह देता तो आपके लिए शायद घी मँगाया जाता। खैर, आपको भारत के औसत आदमी का खाना खाने का अवसर तो मिला। सोचने लगा इतना बड़ा नाम, विद्वता और सम्मान की भी कमी नहीं, परन्तु रहन-सहन इतना सादा।

बिना पूछे उनके बड़े लड़के को एक फर्म में ३५०) रु० माहवार की नौकरी दिला दी। उन्हें पता चला तो वापस बुला लिया, बोले—यह लड़का दुर्भाग्य से बहुत पढ़-लिख नहीं पाया इसलिए मेरे नाम से नहीं, बल्कि इसकी योग्यता से जो उचित वेतन मिले—वही वाजिब है।

द्वितीय मित्र यद्यपि मंत्री तो नहीं हैं परन्तु सम्मान, विद्वता और सूझ-बूझ में बहुत से मंत्रियों से बड़े हैं। कई बार बड़े से बड़े पद और काम संभालने के लिए कहा गया, परन्तु नम्रता-पूर्वक बराबर टाल देते रहे। हाँ, दूसरे योग्य मित्रों को जरूर वैसे कामों पर लगा देते हैं। मैं एक दिन सुबह उनके यहाँ बैठा था, प्रधान-मंत्री के सचिव का फोन आया कि एक बहुत जरूरी काम से प्रधान-मंत्री आपसे अभी मिलना चाहती हैं। उन्होंने कहा कि मैं नौ बजे से पहले नहीं आ सकूँगा। थोड़ी देर बाद ही फिर फोन आया कि आप नौ बजे आ जायँ।

मुझे भी प्रधान-मंत्री के यहाँ से तो बहुत कम—परन्तु दूसरे मंत्रियों के यहाँ से फोन आते रहते हैं। मैं अन्य प्रोग्रामों में रद्दोबदल करके भी वहाँ जाना जरूरी समझता हूँ और इसमें अपनी बड़ाई और प्रभाव की वृद्धि समझते हुए दूसरे मित्रों को भी कह देता हूँ कि फलाँ मंत्री ने बुलाया था—इस तरह की बातें हुई आदि। शाम को मैंने उनसे प्रधान-मंत्री की भेंट के बारे में पूछा तो बोले अमुक काम की सलाह के लिये बुलाया था और भी बातें करना चाहती थीं, परन्तु एक कैबिनेट मिनिस्टर और एक प्रसिद्ध उद्योगपति भी नौ बजे से विजिटिंग रूम में बैठे थे। शायद उनको नौ और साढ़े नौ बजे का समय दिया हुआ था। प्रधान-मंत्री ने अपने सचिव से कहा कि मुझे इनसे बातें करने में समय लगेगा तुम उन्हें दूसरा समय दे दो। मेरे मित्र ने नम्रता-पूर्वक उनको कहा कि गलती मेरी थी कि दूसरों को

दिया हुआ समय ले लिया, मैं कल फिर मिल लूँगा आप उनको बुला लें। प्रधान-मंत्री जब उन्हें बाहर तक पहुँचाने के लिये आयीं तो उन दोनों ने देख लिया। २-३ दिन बाद उद्योगपति के यहाँ से फोन आया कि फलाँ व्यक्ति से तुम्हारी मित्रता है। मैं उनको एक दिन भोजन के लिये बुलाना चाहता हूँ। अगर वे मंजूर करें तो उन्हें फोन कर दूँ। मैंने मित्र से कहा तो उन्होंने हँसकर कहा कि वैसे उनसे मेरी जान-पहचान तो है परन्तु मैं इन दिनों में कुछ व्यस्त हूँ इसलिए फिर कभी चलेंगे।

यह सब लिखने का तात्पर्य अपने धनी युवकों को यह बतलाना है कि शान-शौकत और दिखावे मात्र से ही प्रभाव बढ़ता है—यह धारणा नितान्त भ्रमपूर्ण है।

हमारे भारत में तो ऊँचे-विचार और सादे-जीवन का महत्त्व बराबर रहा है और आज भी है। तीन वर्ष पहले "विश्वमित्र" में मैंने मारवाड़ी समाज की नई पीढ़ी नामक लेख लिखा था, उसकी पत्रों और समाज में काफी चर्चा हुई। आज देश की दशा उस समय से भी ज्यादा खराब है—खास करके बंगाल तो एक प्रकार से ज्वालामुखी के मुंह पर है, जहाँ किसी समय भी भूकम्प आ सकता है। परन्तु खेद है कि वे यह नहीं लक्ष्य करते कि पूंजी भी श्रम की तरह उत्पादन का एक अंग मात्र है। अतएव मेहनतकश जब उनके और अपने बीच सुख-साधन का विराट अन्तर पाता है तो उसमें विद्वेष और विद्रोह की आग धधक उठती है। बदले हुए समय का यह सुस्पष्ट संकेत है किन्तु विडम्बना यही है कि "समय बदला पर हम नहीं" बदले।

मजदूर से मालिक

बात पुरानी है परन्तु बहुत पुरानी भी नहीं। यही कोई ६०-७० वर्ष पहले की होगी। उस समय खत्री समाज का कलकत्ते के व्यवसाय वाणिज्य में विशिष्ट स्थान था—बड़े-बड़े अंग्रेजी आफिसों की बेनियनशिप इनके पास थी। उस समय तक देश में कारखाने बहुत कम बन पाये थे इसलिये ज्यादातर आवश्यक वस्तुएँ विदेशों से, खासकर ब्रिटेन से आयात की जाती थीं। १९१०-११ तक एक-दो मोटरें भी कलकत्ते में आ चुकी थीं। परन्तु उस समय तक भी पालकी गाड़ी और फिटन गाड़ियों का युग था। शौकीन रईसों के पास दो घोड़ों की गाड़ियाँ तो थीं ही, परन्तु किसी-किसी के यहाँ ४ घोड़ों की भी थी—जिन्हें चौकड़ी कहा जाता था। कोचवान और साईस की पोशाकें बहुत ही आकर्षक होती थीं। उन वेलर घोड़ों को फिटनों के सामने आजकी बड़ी-से-बड़ी मोटरों का भी कोई मुकबला नहीं है।

सेठ निक्कामल घोड़ों की रास को थामे अपनी सोने की नक्काशी की हुई सुन्दर फिटन में बैठा हुआ जिधर से निकलता, लोग घर के भीतर से दौड़कर देखने को बरामदे में आ जाते थे। कहा जाता है कि उनके घोड़ों को बेहतरीन गुलाब और केवड़ा जल से स्नान कराया जाता था और जिधर से उनकी गाड़ी निकलती—वहाँ सुमधुर सुगन्ध का समाँ बँध जाता था। ऐसे थे सेठ निक्कामल खत्री—कार तारक कम्पनी के बेनियन और सर्वेसर्वा। यद्यपि उनकी वार्षिक आय १-१॥ लाख से ज्यादा नहीं थी, परन्तु प्रथम महायुद्ध के पहले वस्तुएँ बहुत सस्ती थीं और प्रचुर मात्रा में दैनिक आवश्यक चीजें उपलब्ध थीं इसलिये उस समय आजसे पाँच प्रतिशत में भी लोग अच्छी तरह से रह सकते थे।

सेठ बहुत देर से सोकर उठते और उसके बाद ताश शतरञ्ज से फुर्सत मिलने पर जब वे खा-पीकर आफिस आते तब ३-३।। बज जाते। वे आफिस का काम स्वयं बहुत कम देखते थे। उनके नीचे कई दलाल और दूसरे लोग काम करनेवाले थे। उनमें से गिरधारीलाल नामक एक १५ वर्ष का

मारवाड़ी लड़का भी था—जिसका मासिक वेतन था १४) रु० और काम था बाजार के पुर्जे चुकाने का। इन चौदह रुपयों में ही गिरधारीलाल को अपने छोटे भाई और विधवा माँ का खर्च भी चलाना पड़ता था। यद्यपि अभाववश स्कूल और कालेज की पढ़ाई तो नहीं हो पायी थी फिर भी वह शुरू से ही परिश्रमी और होशियार के सिवाय सुन्दर और सुशील था।

पुर्जे चुकाने के सिलसिले में उसे दुकानदारों के पास प्रायः नित्य ही जाना पड़ता था, इसलिए विभिन्न तरह के कपड़ों के दाम भी उसे याद हो गये थे। सेठ के कुछ अपने बँधे हुए दुकानदार थे, जिन्हें किसी कारण से कपड़ा बाजार से कुछ सस्ता दिया जाता था। एक दिन बड़ी नम्रता से उसने सेठ का ध्यान किसी एक सौदे के बारे में आकर्षित किया जो बाजार भाव से कुछ नीचे में हुआ था।

उसे बड़ा दुःख हुआ जब सेठ ने शाबासी देने के बजाय उसे धमका दिया कि उसका काम केवल पुर्जा चुकाना है, उसे इन सब बातों से कोई प्रयोजन नहीं रखना चाहिए।

आफिस के बड़े साहब का ध्यान गिरधारीलाल के व्यवहार और परिश्रम की ओर गया। वह कभी-कभी उसको अपने कमरे में बुलाकर बातचीत करने लगा। उस समय के अधिकांश अंग्रेज व्यापारी साधारण हिन्दी और बंगला बोल लेते थे। सेठ को यह मेल-जोल अच्छा नहीं लगा और उसने गिरधारीलाल को साहब से मिलने की मनाही कर दी।

वह स्वामी-भक्त लड़का था और उसे साहब से कुछ आशा-भरोसा का सवाल नहीं था इसलिए वह एक प्रकार से अलग-सा रहने लगा।

कुछ दिनों बाद एक दिन साहब ने उसे बुलाकर नहीं मिलने का कारण पूछा तो उसने सच्ची बात न बताकर दूसरे कामों में फंसे रहने का बहाना कर दिया, क्योंकि वह किसी प्रकार भी मालिक की शिकायत नहीं करना चाहता था। इतने में ही सेठ निकामल वहाँ आ गया और साहब को इस साधारण छोकरे से हँस-हंस करके बातें करते देखकर बहुत ही गुस्सा हुआ। परन्तु उस समय कुछ नहीं बोला। दूसरे दिन गिरधारीलाल को घरपर

बुलाकर एक सौ रुपया देते हुए सेठ ने उसे नौकरी से अलग करते हुए कहा कि आइन्दे वह कभी आफिस की तरफ न आवे।

यद्यपि उस समय एक सौ रुपया उस गरीब युवक के लिये बहुत बड़ी राशि थी, परन्तु उसने नम्रतापूर्वक वह रकम वापस कर दी, क्योंकि बिना कमाई का पैसा वह नहीं लेना चाहता था। उसने सेठ को विश्वास दिलाया कि 'मैंने आपका नमक खाया है, मेरे से आपका किसी प्रकार का भी अहित नहीं होगा।'

घर जानेपर माँ के पास जाकर उसे रुलाई आ गयी। उसे नौकरी से क्यों छोड़ा गया—इसका वह कोई कारण नहीं बता सका। अपने पुत्र की ईमानदारी और मेहनत पर माँ को पूरा भरोसा था। फिर भी उसने यही सीख दी कि बेटा, कुछ-न-कुछ तो गलती हुई ही है, नहीं तो तुम्हें मालिक क्यों छोड़ते। खैर, अपने शरीर में उनका नमक है, इसलिए उनकी बुराई हो—ऐसा काम कभी मत करना।

निक्कामल सेठ का इतना दबदबा था कि उसके छोड़े हुए व्यक्ति को रखने का किसी को साहस नहीं होता था। इसलिए बेचारा युवक रोज इधर-उधर घूम-फिरकर वापस घर आ जाता। जो कुछ पास में था वह समाप्त हो गया और अन्त में उन लोगों के भूखें रहने की नौबत आ गयी।

गिरधारीलाल को विश्वास था कि साहब के पास जानेपर कुछ-न-कुछ काम जरूर मिल जाता, किन्तु मालिक ने आफिस में जाने की मनाही जो कर दी थी।

१०-१५ दिन बाद साहब ने सेठ को उसके बारे में पूछा तो बीमार होने की बात कह दी गयी।

कुछ दिन और बीत जानेपर एक दिन साहब ने अपने बड़े दरवान को बुलाकर कहा कि वे गिरधारीलाल के घर उसे देखने जायेंगे, वह शायद ज्यादा बीमार है। दरवान से पता चला कि वह बीमार तो नहीं है, वरन् उसको नौकरी से अलग कर दिया गया है।

उस दिन शनिवार था। सेठ आफिस नहीं आया था क्योंकि वह नियमानुसार शुक्रवार की शाम को चुने हुए मुसाहिबों के साथ अपने लिलुआ के बगीचे चला जाता था और सोमवार सुबह वापस आता था।

गिरधारीलाल को बुलाकर जब साहब ने पूछ-ताछ की तो उस स्वामी-भक्त युवक ने सेठ को बचाने के लिए कहा कि मेरे से एक बड़ी गलती हो गयी इसलिए उन्होंने मुझे छोड़ दिया है।

बात तो उसने कह दी—परन्तु आधा पेट भूखे छोटे भाई और माँ का ख्याल आने पर उसे बरबस रुलाई आ गयी, जिसको प्रयत्न करने पर भी वह नहीं रोक सका।

साहब ने कहा कि तुम तो विभिन्न प्रकार के कपड़ों के दाम और व्यापारियों को जानते हो। अगर तुम्हें कपड़े बेचने का सौदा दिया जाय तो कर सकोगे? उसने जवाब दिया कि श्रीमान् यह तो मेरे मालिक का हक है। आज यद्यपि मैं उनके यहाँ नहीं हूँ, पर मैंने उनका नमक खाया है इसलिये मैं यह काम नहीं करूँगा। उस फटेहाल लड़के की इस बात ने साहब को और भी प्रभावित किया और उसने हर प्रकार से उसे समझाया कि इससे सेठ को किसी प्रकार की क्षति नहीं होगी। यह तो नया काम है। उसे कुछ कपड़ों के नमूने देकर और कीमतें बताकर १००० गाँठ तक बेच देने का आदेश दिया।

बनिये का लड़का था, व्यवसायिक बुद्धि प्रचुर मात्रा में थी। वह उन दूसरे दुकानदारों के पास गया जो इस आफिस का माल लेने को तरसते रहते थे। साहब ने जो दाम बताये थे उससे प्रति गज एक दो पैसे ऊँचे में सौदे पक्के कर लिये और खरीदारों को आफिस में लाकर साहब से रुजू करा दिया।

सारे बाजार में चर्चा फैल गयी कि कार तारक कम्पनी का कपड़ा गिरधारीलाल ने बेचा है। निकामल के व्यापारी घोड़े-गाड़ियाँ लेकर लिलुआ के बगीचे खबर देने पहुँचे।

सेठ मुसाहिबों से घिरा हुआ नाच-गाना देखने-सुनने में मस्त था। परन्तु जब बात का पता चला तो नशा हिरन हो गया। तबले की थाप और सारंगी की तान बन्द हो गयी और उसी समय फिटन दौड़ाता हुआ आफिस पहुँचा।

वह आफिस का पुराना बेनियन था और उसकी इज्जत और धाक भी

थी। शायद अपनी गलती मंजूर कर लेने पर साहब मान जाता, परन्तु क्रोध में मनुष्य की मति भंग हो जाती है।

उसने आते ही बड़े साहब पर रोब गाँठना शुरू किया परन्तु साहब झगड़ा बढ़ाना नहीं चाहता था। उसने कहा कि एक महीने से यह माल बिक नहीं रहा था और जिन दामों में हम बेचना चाहते थे उससे भी ४-५ पाई प्रति गज ऊँचा बिका है। गिरधारीलाल की तो केवल दलाली ही रहेगी, बाकी बेनियनशिप कमीशन तो आपका ही है।

साहब की नम्रता को कमजोरी समझकर निक्कामल ने विलायत के बड़े साहबों से अपनी मित्रता और प्रभाव की धौंस जताते हुए कहा कि दलाल चुनना मेरा काम है न कि आफिस का। इसलिए इस सौदे की जिम्मेवारी मैं नहीं लूंगा और गिरधारीलाल के पास तो एक कानी कौड़ी भी नहीं है कि वह आपको जमानत के रूप में दे सके। मैं अब आपकी आफिस से किसी प्रकार का संबंध भी रखना नहीं चाहता। उसी समय सेठ ने बेनियन-शिप से इस्तीफा लिखकर दे दिया।

उसको पूरा भरोसा था कि साहब दब जायगा और उसकी मान मनुहार करके इस्तीफा वापस कर देगा। परन्तु जब टाइपिस्ट को बुलाकर इस्तीफा मंजूर कर लिया गया तो निक्कामल सेठ की आँखों के आगे अन्धेरा छा गया, क्योंकि उसकी शान-शौकत और मौज-शौक तो सब इस आफिस के पीछे ही थी। उसने साहब से गलती और गुस्से के लिये क्षमा भी माँगी। परन्तु बात बहुत आगे बढ़ चुकी थी और अब किसी प्रकार का समझौता सम्भव नहीं था।

कलकत्ते की आफिस से बिना रुपये जमा लिये ही गिरधारीलाल के लिए बेनियनशिप की सिफारिश लन्दन आफिस को की गयी। इधर सेठ निक्कामल ने भी पूरा जोर लगाया। अपने ३० वर्षों के सम्बन्ध और गिरधारीलाल की नाजुक आर्थिक स्थिति और नातजर्बेकारी के बारे में बड़े-बड़े तार दिये। दूसरे व्यापारियों से भी तार दिलाये परन्तु बात बड़े साहब की रही।

अब कार तारक कम्पनी के बेनियन बने सेठ गिरधारीलाल मटरुमल, कल के १४) महीने में पुर्जा चुकाने की नौकरी करने वाले। बहुत वर्षों तक दोनों भाइयों ने ईमानदारी और कड़ी मेहनत से काम किया। आफिस के काम की भी उनके समय में अच्छी तरक्की हुई। उनके अपने लाभ के सिवाय व्यापारियों को भी उनके द्वारा अच्छा मुनाफा होता रहा।

धनाढ्य हो जाने पर भी उन्होंने अपने रहन-सहन में सादगी रखी और गरीबी के दिनों को नहीं भूले। जो भी कोई गरीब युवक उनके पास आया उसे हर प्रकार की सहायता दी। कुछ वयोवृद्ध लोग अभी भी हैं जिन्होंने गिरधारीलाल को देखा है—उनकी हरिसन रोड में धर्मशाला है। राजस्थान में भी कुआँ, तालाब और धर्मशाला है। शायद गरीब विद्यार्थियों के लिए अन्न-क्षेत्र भी कुछ समय पहले तक था। ऐसा कहा जाता है कि गरीब लड़कियों की तो गुप्त-रूप से उन्होंने बीसों शादियाँ करायी थीं।

आज न तो गिरधारीलाल है और न कार तारक कम्पनी का साहब। परन्तु उनके स्मारक और भलाई की बातें लोगों के मन में अभी भी बसी हुई हैं और दूसरे व्यक्तियों को प्रेरणा प्रदान करती रहती हैं।

कुछ इसी प्रकार का इतिहास कम-वेसी असम और बंगाल में राजस्थानियों का रहा है।



बलिदान की परम्परा

राजस्थान वीर-प्रसविनी-भूमि कहलाता है। चित्तौड़ का यश तो सर्व-विदित है। भूतपूर्व जोधपुर रियासत में भी अनेक वीर पैदा होते रहे हैं जिनकी गाथाएँ उन क्षेत्रों के चारण गद्गद् होकर गाते हैं। बाबा रामदेव, वीर दुर्गादास और प्रण-वीर पाबजी राठौड़ का नाम आज भी अमर है। सन् १९६२ में मेजर शैतान सिंह चीनी आक्रमणकारियों से देश की रक्षा करते हुए, बहुत ही बहादुरी के साथ लड़ते हुए शहीद हुए थे। उसी मरुधरा की एक छोटी-सी, ढ़ाणियों की, राजपूत-बस्ती, वीरपुरी में एक साधारण परिवार है, जिसकी यह परम्परा चली आ रही है कि प्रत्येक पुरुष ३०-३२ वर्ष की उम्र पाने से पूर्व ही किसी-न-किसी युद्ध में वीरगति प्राप्त कर लेता था।

इस परिवार को जोधपुर रियासत से सिरोपाव सोना और नगारे की इज्जत मिली हुई थी। यहाँ तक कि दरबार में जाने पर महाराजा स्वयं खड़े होकर परिवार के सरदार का स्वागत करते थे।

कहा जाता है कि इनके पूर्वजों में कई ऐसे अद्भुत जुझार पैदा हुए, जो सिर कट जाने के पश्चात् भी कई देर तक हाथ में तलवार लिये युद्ध करते रहे थे। इसी घराने के ठाकुर हीरसिंह ने प्रथम महायुद्ध में फ्रांस की रणभूमि में जर्मनों के छक्के छुड़ा दिये थे, स्वयं घायल होकर भी एक दूसरे घायल सिपाही को कन्धे पर डालकर ले जाते हुए उसको सुरक्षित स्थान पर पहुँचाते समय दुश्मन की गोलियों से उनका प्राणान्त हो गया।

ठाकुर हीर सिंह की मृत्यु का समाचार उनकी विधवा माँ और पत्नी को मिला तो शोकाकुल माता ने सर्वप्रथम यह बात पूछी कि मेरे पुत्र को गोली किस जगह पर लगी यद्यपि उसको यह पता चल गया था कि किस प्रकार वह जर्मन सिपाहियों को मौत के घाट उतारता रहा और अन्त में घायल साथी के प्राण बचाते हुए धोखे से मारा गया। फिर भी वह अपने शेष जीवन में इसी संताप से ग्रस्त रही कि उसका पुत्र पीठ में लगी गोली से मारा गया, जो उस परिवार के लिये कलंक था।

विधवा माँ और पत्नी मृत ठाकुर के छोटे बच्चे पर सारी आशाएँ केन्द्रित कर उसे वीरता भरी कहानियाँ सुनाया करती थीं। जब उसकी आयु २३-२४ वर्ष की हुई तो द्वितीय विश्व-महायुद्ध का प्रारम्भ हो चुका था। जोधपुर नरेश के बुलाने पर युवक भूरसिंह परिवार की परम्परानुसार दादी, माता और पत्नी के पास बिदा लेने गया। विदा करते हुए माँ ने कहा—"बेटा मुझे एक संताप अभी भी खाये जा रहा है, यद्यपि तेरे स्वर्गीय पिता को यथेष्ठ यश मिला था किन्तु उनकी मृत्यु पीठ पर गोली लगने से हुई। अतः यह ध्यान रखना कि इसकी पुनरावृत्ति न हो। पित्रेश्वरों के आशीर्वाद से तुम्हें विजयश्री प्राप्त हो, मेरी कोख व परिवार के नाम को उज्ज्वल करना।"

युवक भूरसिंह ने अपने पिता से भी ज्यादा यश प्राप्त किया। सैकड़ों दुश्मनों को इटली के रणक्षेत्र में मौत के घाट उतार कर वे वीरगति को प्राप्त हुए। गोलियों से छलनी हुई लाश को श्रद्धा के साथ मस्तक झुकाकर शत्रु-सेना के अफसरों ने भी सलामी दी और सम्मान-पूर्वक उसे दफना दिया गया।

जब भूर सिंह घर से चले थे तो पत्नी गर्भवती थी। उसकी मृत्यु के समय बालक पुत्र की आयु भी उसके समान ही केवल दो वर्ष की थी।

सरकारी पेंशन से किसी प्रकार घर का निर्वाह होता रहा। वैसे उनकी थोड़ी-सी जमीन भी थी, किन्तु परिवार में कोई पुरुष सदस्य तो खेती के पीछे देखने वाला था नहीं, अतः जो कुछ बँटाई से प्राप्त होता उससे गुजारे में कुछ मदद मिल जाती थी।

बचपन से ही बालक बड़ा हृष्ट-पुष्ट था, इसलिये उसका नाम रखा गया जोरावर सिंह। दस साल की उम्र में जोरावर सिंह में इतनी शक्ति व हिम्मत थी कि स्कूल में अपने से दुगुनी उम्र के लड़कों को पछाड़ दिया करता था, फलतः आसपास के गाँवों में कई प्रकार की किंवदन्तियाँ उसके बल के बारे में प्रचलित हो गयीं।

जोरावर सिंह की उन बातों को सुनकर विधवा माँ का हृदय सदैव भयभीत रहता था। वह पुत्र को सैनिक स्कूल में भर्ती न करवा कर घर पर ही दूसरे प्रकार की शिक्षा दिलाना चाहती थी। परन्तु जोरावर सिंह माँ

से बिना कुछ कहे एक दिन छिपकर घर से चल दिया और सैनिक स्कूल में भर्ती हो गया। स्कूल से उसने अपनी विधवा माँ को पत्र लिखा, '......यद्यपि देश स्वतन्त्र हो गया है पर हमारी उत्तरी सीमा पर दुश्मन चढ़ आया है इस हालत में भारत माता को किसी भी समय वीरों के बलिदान की आवश्यकता हो सकती है और यदि उसमें सर्वप्रथम हमारे परिवार का योग न रहा तो आपकी कोख से मेरा जन्म लेना ही व्यर्थ होगा......'। पत्र पढ़ते समय माँ की दाहिनी आँख फड़क रही थी, फिर भी उसने आशीर्वाद सहित जोरावर को सैनिक शिक्षा की मंजूरी दे दी।

अक्टूबर-नवम्बर १९६२ का समय था। चीन का आक्रमण हुआ। जोरावर सिंह सेना की सर्वोच्च परीक्षा में सफलता से उत्तीर्ण होकर निकला था। उसकी प्रबल इच्छा थी कि उसे लड़ाई में जाने का अवसर मिले; परन्तु उसकी यह इच्छा पूर्ण हो इसके पहले ही युद्ध-विराम हो गया।

पिछले वर्ष पाकिस्तान ने हमारे देश पर हमला किया। काश्मीर, पंजाब व राजस्थान के बाड़मेर की सीमाओं पर हमलावरों को रोकने के लिये जिन फौजों को भेजा गया था उनमेंसे एक टुकड़ी का नायक था—युवक जोरावर सिंह। मोर्चे पर जाने से पूर्व वह अपने गाँव माँ से मिलने गया।

बिदा के समय माँ को असगुन हो रहे थे। बहुत यत्न करने के बाद भी वह अपने आँसू न रोक सकी। उसने अपने पुत्र को छाती से लगाकर आशीर्वचन दिया और इतना ही कहा—'बेटा ! मुझ माँ से भी बड़ी तुम्हारी भारत माँ है, उस पर आज दुश्मनों ने हमला किया है। कुल देवता तुम्हें विजयी बनावेंगे, परन्तु याद रखना, अगर युद्ध में वीरगति प्राप्त हो तो दुश्मन की गोली पीठ में न लगे।'

मरुभूमि बाड़मेर के सूने इलाके में सिर्फ सात अन्य जवानों के साथ इस बहादुर रण-बाँकुरे को एक सीमा चौकी की रक्षा का भार सौंपा गया। युद्ध का अधिक जोर काश्मीर और पंजाब की सीमा पर ही था, अतः राजस्थान के इस वीरान इलाके में थोड़े से सिपाहियों को साधारण हथियार व गोलियाँ देकर ही तैनात कर दिया गया था।

सितम्बर के दूसरे सप्ताह में एक दिन अचानक ही इस चौकी पर ७०-८० पाकिस्तानी सिपाहियों ने गोला-बारूद और हथियारों से लैस होकर हमला बोल दिया। दुश्मन के बहुत से सिपाही मौत के घाट उतार दिये गये, किन्तु इस तरफ भी केवल तीन ही जवान शेष बचे हुए थे और वे भी बुरी तरह घायल हो चुके थे तथा उनकी गोलियाँ भी समाप्त हो गयी थीं।

जोरावर सिंह घायलावस्था में ही दो बार मरे हुए दुश्मनों के पास जाकर हथियार व गोला-बारूद लाने में सफल हुआ। परन्तु तीसरी बार आगे बढ़ते ही सामने से शत्रु-दल ने उस पर एक साथ गोलियों की बौछार शुरू कर दी और वह बेहोश होकर गिर गया। कुछ समय पश्चात् दूसरी चौकी के हमारे सिपाही वहाँ पहुँच गये और उनको देखकर बुजदिल पाकिस्तानी हमलावर भाग गये। इस समय तक जोरावर सिंह को भी कुछ होश आ चुका था, परन्तु उसके शरीर से इतना खून निकल गया था कि वह अन्तिम साँस ले रहा था।

मरते समय उसने अपने साथियों से कहा कि अगर संभव हो तो मेरी लाश को मेरे गाँव भेज देना, क्योंकि मेरी माँ ने कहा था……………।' मैं चाहता हूँ कि मेरी माँ देखे कि मैंने उसकी आज्ञा का पूर्णतया पालन किया है। इतना कहने के पश्चात् उसका शरीर शान्त हो गया। पास में खड़े उसके साथी सिपाहियों ने देश के प्रति कुर्बान हुए उस शहीद को सैनिक सलामी दी।

धन्य है यह भारत और उसकी वीर-भूमि राजस्थान जहाँ ऐसे वीर जन्म लेकर इतिहास में अपना और अपने देश का नाम अमर करते हैं तथा धन्य हैं वे माताएं जो ऐसे वीरों को जन्म देती हैं और फिर इस तरह की आज्ञा……।

चन्दरी बुआ

राजस्थान में पुराने जमाने में ऐसी प्रथा थी कि एक ही गाँव में शादी-विवाह नहीं होते थे। लड़की को दूसरे गाँव में देते थे और दूसरे गाँव की लड़की को बहू बनाकर लाते थे। यहाँ तक होता था कि अगर किसी गाँव में बारात आती तो वर-पक्ष के गाँव की जितनी भी लड़कियाँ वहाँ व्याही हुई होतीं, सबको मिठाई भेजी जाती थी।

अपने गाँव की लड़की को, चाहे किसी भी जाति की हो, आयु के अनुसार भतीजी, बहिन या बुआ कहकर पुकारा जाता था। मुझे याद है कि हमारे घर के पास में एक मुसलमान लखारों का घर था और हम उन सबको चाचा, ताऊ या चाची, ताई कहकर पुकारते थे।

अब गाँव, कस्बों में परिवर्तन हो गये हैं और यातायात के साधन सुलभ होने से आवागमन भी बढ़ गये हैं, इसलिए यह प्रथा कम होती जा रही है।

इस कथा की नायिका चन्दरी बुआ का जन्म राजस्थान की बीकानेर रियासत के एक गाँव में आज से ११० वर्ष पहले एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था।

माता-पिता की इकलौती सन्तान थी, इसलिए सुन्दर-सा नाम चन्द्रावती या चन्द्रप्रभा रखा, परन्तु लोग उसे चन्दरी या चान्दी के नाम से पुकारते थे। उन दिनों सुहासिना, सेफाली, सरिता और सुनयना आदि नामों की तो पण्डितों को जानकारी ही नहीं थी।

जब चन्दरी १२ वर्ष की हुई तो उसका विवाह हुआ। पास के गाँव से बारात आयी और सारे कार्य धूम-धाम से सम्पन्न हुए।

उसका पिता तो साधारण स्थिति का ब्राह्मण था, परन्तु उन दिनों विवाह-शादियों में घर वालों को कुछ विशेष नहीं करना पड़ता था। गाँव के पुरुष और स्त्रियाँ सारे कामों का आपस में बँटवारा कर लेते थे। प्रति घर से एक-दो रुपये टीके या बान के रूप में भी दिये जाते थे जिससे माँ-बाप का खर्च का बोझ भी कम हो जाता था।

विवाह तो बचपन में ही हो जाते, पर गौना तीन या पाँच वर्ष बाद होता था उससे पहले बहू ससुराल नहीं जाती थी। चन्दरी के पति का देहान्त गौना होने के पूर्व ही हो गया, फिर वह ससुराल नहीं गयी और मायके ही रहने लगी।

पहले तो वह शायद बेटी या बहिन के नाम से पुकारी जाती होगी, पर मैंने जब होश संभाला तबतक वह प्रौढ़ा हो चुकी थी और उसे बुआ का पद मिल चुका था। उसके माँ-बाप स्वर्गवासी हो चुके थे। वह सारे मुहल्ले की बुआ कहलाने लगी थी।

दान-दक्षिणा से उसे प्रारम्भ से ही ग्लानि थी। इसीलिए बावजूद सबके साथ अच्छे सम्बन्धों के, वह श्रम करके ही अपना जीवन-निर्वाह करती थी। सुबह ४ बजे उठकर चक्की पीसने बैठ जाती और सूर्योदय तक ८ से १० सेर तक अनाज पीस लेती। इससे उसे प्रतिदिन २ से २॥ आने तक कमाई हो जाती। उसे कभी काम का अभाव न रहता, क्योंकि एक तो वह काम में स्वच्छता रखती तथा दूसरे अनाज को साफ करके पीसती तथा पिसाई में आटा घटाती न थी।

जब कभी हमारी नींद पहले खुल जाती तो चन्दरी बुआ के भजन तथा चक्की की आवाज सुनाई पड़ती। उन दिनों एलार्म घड़ियाँ तो सुलभ थी नहीं, अतः जिसे कभी मुहूर्त साधकर जाना होता या पहले उठना होता, वह चन्दरी बुआ को समय पर जगाने को कह जाता और वह उसे नियत समय पर जगा देती। उस समय तारों को देखकर समय का ज्ञान बड़ी-बूढ़ी स्त्रियों को रहता था।

उसकी आवश्यकताएँ कम थीं। इसलिए दो-ढाई आने में सामान्य जीवन-निर्वाह हो जाता था। चन्दरी बुआ ने इससे अधिक कमाने की आवश्यकता कभी नहीं समझी। दिन में वह मुहल्ले के बच्चों की देखभाल करती तथा कोई बीमार होता तो उसकी सेवा करती रहती। उन दिनों लेडी डाक्टरों का आविर्भाव नहीं हुआ था। इसलिए प्रसव का काम सयानी स्त्रियाँ या दाइयाँ ही संभालती थी। कठिन-से-कठिन समय में भी चन्दरी के आ जानेपर घरवालों को और जच्चा को सान्त्वना व साहस मिल जाता था।

उसने न तो कभी पति-प्रेम को ही जाना और न उसके बच्चे हुए। परन्तु जीवन का सारा प्रेम और ममत्व दूसरों के बच्चों पर उड़ेल दिया। मुहल्ले के बच्चे सारे दिन उसे घेरे रहते थे—किसी को पतङ्ग के लिए लेही चाहिए तो किसीको अपनी गुड़िया के विवाह के लिए रंग-बिरंगे कपड़े। उसके दरवाजे से निराश जाते किसीको नहीं देखा।

सङ्गीत की शिक्षा को लिये बिना ही उसे ताल और स्वर का यथेष्ट ज्ञान था। विधवा होने के कारण विवाह-शादी के गीत तो नहीं गाती, परन्तु भजन और रातीजगा (रात्रि-जागरण) उसके बिना नहीं जमते थे। मीरा और सूर के पदों को इतनी लवलीन होकर मधुर रागिनी से गाती कि सुननेवाले भाव-विभोर हो जाते।

जब वह काफी वृद्धा हो चली तब भी मैंने उसे देखा था। उस समय अनाज पीसना तो उसके वश की बात नहीं थी, फिर भी कुछ छोटा-मोटा काम करती रहती थी। वह इतनी बूढ़ी हो चली थी कि उसके हाथ और गर्दन काँपने लग गये थे और आवाज में भी हकलाहट-सी आ गयी थी।

प्रति वर्ष गर्मी के मौसम में लोग हरिद्वार और बद्रिकाश्रम जाते थे। चन्दरी बुआ से लोगों ने बहुत बार आग्रह किया, परन्तु उसका एक ही जवाब होता कि मुझ गरीब और अभागिन के भाग्य में तीर्थ-स्नान कहाँ है; यह सब तो भाग्यशाली लोगों को मिलता है।

एक दिन उसने मुझे बुलाया और कहने लगी—आजकल स्वास्थ्य जरा ठीक नहीं रहता, पता नहीं कब शरीर छूट जाय। मेरे मन में अपनी ससुराल के गाँव में एक कुंआ बनाने की है। वहाँ एक ही कुआँ है। इसलिये गर्मी में गायें और ढोर तो प्यासे रहते ही हैं—मनुष्यों को भी पूरा पानी नहीं मिलता। तुम पता लगाकर बताओ कि एक कुएँ पर कितना खर्चा आयेगा। मैं आकर सोचने लगा कि बुढ़ापे में बुआ का दिमाग खराब हो गया है। दूसरों से कभी माँगा नहीं। आजकल बुढ़ापे में दोनों वक्त का खाना भी खुद नहीं जुटा पाती, इसपर भी कुआँ बनाने की धुन लगी है।

बात आई-गयी हो गयी, परन्तु १०-१२ दिन बाद देखता हूँ कि लाठी टेकती बुआ सुबह-ही-सुबह हाजिर। मन में अपने पर ग्लानि और क्षोभ

हुआ कि जिसकी छत्रछाया में बचपन के इतने वर्ष बिताये, जिससे नाना-प्रकार के छोटे-मोटे काम लिये, बहुत रात गये तक कहानियाँ सुनीं—उसके एक छोटे से काम पर भी मैंने ध्यान नहीं दिया।

फिर भी मैंने कहा—वहाँ पानी बहुत नीचा है, इसलिये कुएँ पर दो-ढाई हजार रुपये खर्च होंगे। यदि कुई (छोटा कुआँ) बनायी जाय तो शायद डेढ़ हजार तक बन सकेगी।

मेरा उत्तर सुनकर बुआ के झुर्रियों से भरे चेहरे पर एक गहरी उदासी छा गयी और मन-ही-मन कुछ हिसाब-सा लगाने लगी। दूसरे दिन मुझे अपने घर आने को कह कर चली गयी।

अगले दिन जब मैं उसके यहाँ पहुँचा तो देखा कि वह मेरा इन्तजार कर रही है। थोड़ी देर बाद इधर-उधर देखकर मुझे भीतर की एक कोठरी में ले गयी। खाट के नीचे से एक पुराना डिब्बा निकाला और उसे खोलकर मेरे सामने उड़ेल दिया।

रानी विक्टोरिया, एडवर्ड और जार्ज पंचम की छाप के पुराने रुपये थे तथा कुछ रेजकारी थी। थोड़े-से चाँदी के गहने थे और एक सोने की मूरत थी, जो शायद उसकी माँ ने उसके विवाह के समय उसको दी होगी।

मैं रुपये गिन रहा था और पिछले ६०-७० वर्षों का इतिहास मेरे मानस में तैर रहा था। सोच रहा था—इस वृद्धा की सारी उम्र की कड़ी कमाई का यह पैसा है जो उसने कठिन जीवन बिताकर, यहाँ तक कि तीर्थयात्रा की बलवती इच्छा को दबाकर इकट्ठा किया है। आज जीवन के संध्याकाल में सारा का सारा परोपकार में लगा देना चाहती है। गिनकर मैंने बताया कि लगभग ९०० रुपये हैं। ३०० रुपये के गहने होंगे। इतने में काम बन जायगा और जो कुछ थोड़ी कमी रहेगी उसकी व्यवस्था हो जायगी—कोई चिन्ता की बात नहीं है।

वह बोली—बेटा, मेरे पति के निमित्त कुआँ बनेगा। इसमें दूसरों का पैसा कैसे ले सकूँगी। नहीं होगा तो एक मजदूर कम रखकर कुछ काम मैं कर दिया करूँगी। मैंने पूछा, बुआ कुएँ पर किस नाम का पत्थर लगेगा। अपनी धुंधली आँखों को कुछ फैलाने की चेष्टा करते हुए बुआ ने जवाब दिया

कि नाम की इच्छा से पुण्य घट जाता है। फिर मानुष तो स्वयं क्षणभंगुर है, उसके नाम का मूल्य ही क्या ?

मुझे इस अपढ़ वृद्धा के तर्क पर आश्चर्य के साथ श्रद्धा हो रही थी, यह कुअ बनाने के परोपकारी काम के वास्ते सर्वस्व लगाकर भी न तो अपना और न अपने पति के नाम का पत्थर लगाने की इच्छा रखती है—जबकि आज १ लाख लगाकर ५ लाख की इमारत पर या संस्था पर नाम लगाने की खींच-तान धनवान और विद्वानों में लगी रहती है तथा उद्घाटन-समारोह किस मंत्री या नेता से करायें इसपर भी काफी सोच-विचार होता है। तय नहीं कर पा रहा था कि कौन बड़ा दानी है और किसका दान ज्यादा सात्विक है।

कुछ दिनों बाद उस गाँव में गया तो देखा कि कुआँ बन रहा था और चन्दरी बुआ भी मजदूरों के साथ काठड़ी ढो रही थी। उसकी लगन और परिश्रम देखकर दूसरे मजदूर-कारीगर भी जी-जान से काम में जुटे थे। कुआँ बनकर तैयार हो गया, परन्तु चन्दरी बुआ थककर बीमार हो गयी। जिस दिन हनुमानजी का जागरण और प्रसाद हुआ वह वेहोश-सी थी।

किसीने कहा—बुआ, तुम्हारे कुएँ का पानी तो बहुत मीठा निकला है, परन्तु तुम तो बहुत दिन नहीं पी सकोगी। वह बोली—मेरा इसमें क्या है। तुम सब लोगों में रहकर कमाया हुआ पैसा था, वह भले काम में लग गया। दूसरों के कुओं से सारी उम्र पानी पिया है, इसलिए इस छोटे-से प्रयत्न के द्वारा मैंने तो अपना ऋण चुकाने का प्रयास किया है। मेरी आखिरी इच्छा है कि जब मेरे प्राण निकलें तो गंगाजल की जगह इसी कुएँ का पानी मेरे मुँह में डालना।

हनुमानजी के जागरण में आस-पास से देहात के काफी लोग इकट्ठे थे। थोड़ी देर बाद ही वहीं सबके सामने बुआ का देहान्त हो गया।

आज वह गाँव बड़ा हो गया है और दूसरे कुएँ भी बन गये हैं, परन्तु चन्दरी के कुएँ के पानी के समान मीठा पानी किसी का भी नहीं है।

हमीद खाँ भाटी

प्रत्येक गाँव या कस्बे में कभी-कभी ऐसे व्यक्ति हो जाते हैं जिनको बहुत समय तक लोग याद किया करते हैं और उनकी अमिट छाप जन-मानस पर अंकित हो जाती है। इस प्रकार के मनुष्य केवल धनी अथवा विद्वान् घरानों में ही पैदा होते हैं, ऐसी बात भी नहीं है।

बीकानेर के उत्तर में पूगल नाम का इलाका है। कहा जाता है कि किसी समय में यहाँ पद्मिनी स्त्रियाँ होती थीं। जो भी हो—आजकल तो यहाँ वीरान, रेतीली बंजर भूमि है। पीने के पानी की कमी रहती है, इसलिए गाँव भी छोटे और दूर-दूर हैं।

यहाँ के बाशिन्दों का मुख्य धन्धा भेड़ पालना है। थोड़े से ब्राह्मण और बनिये हैं जो लेन-देन या थोड़ी-बहुत दुकानदारी का काम करते हैं।

उनके सिवाय यहाँ मुसलमान गूजरों की पर्याप्त संख्या है, जिनके पास बेहतरीन किस्म की गायें रहती हैं। वे इनका दूध-घी बेचकर अपना निर्वाह करते हैं। कहावत है कि—"सेवा से मेवा मिलता है"। शायद इसीलिए इनकी गायें दूध ज्यादा देती हैं और अच्छी नसल के बछड़े-बछियाँ भी।

सन् १९५१ में इस तरफ भयंकर अकाल पड़ा था। कुओं में पानी सूख गया। घरों में जो थोड़ी बहुत घास और चारा बचा हुआ था उससे उस वर्ष किसी प्रकार पशुओं की जान बची।

जब दूसरे वर्ष में फिर वर्षा नहीं हुई और अकाल पड़ गया तो यहाँ के लोगों की हिम्मत टूट गयी। कलकत्ते की मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी ने दोनों वर्ष ही वहाँ राहत कार्य किया था। मैं भी दूसरे वर्ष कुछ समय तक उस सिलसिले में वहाँ रहा।

हम देखते थे कि नित्यप्रति हजारों स्त्री, पुरुष और बच्चे अपने ढोरों को लिए हुए पैदल कोटा, बांरा और मालवा की तरफ जाते रहते थे।

४-५ महीनों के बाद वापस आने की संभावना रहती इसलिए घर का सारा सामान भी गाय और बैलों पर लदा हुआ रहता। घर छोड़कर जाने में दुःख होना स्वाभाविक है और फिर अभावों से घिरे हुए, बीहड़ लम्बा रास्ता और बैसाख की गर्मी। इसलिए सबके चेहरों पर दुःख और शोक की स्पष्ट छाया नजर आती थी। रास्ता काटने के लिये स्त्रियाँ भजन गाती हुई चलतीं। बच्चों को संकट और कष्ट के बारे में खास जानकारी नहीं रहती इसलिए उनको इस यात्रा में एक प्रकार का नयापन और आनन्द मिलता। उनलोगों से पूछने पर प्रायः एक-सा ही उत्तर मिलता कि पानी, अनाज, घास और चारा मिलता नहीं है, क्या तो हम खाँय और क्या इन पशुओं को खिलावें।

हमें पूगल के गाँवों के सीमान्त पर बहुत से गाय, बैलों के कंकाल और लाशें देखने को मिलीं। पता चला कि वृद्ध बैलों और गायों को उनके मालिक जंगलों में छोड़ गये। यहाँ भूख, प्यास और गर्मी से इनके प्राण निकल गये।

कई बार तो सिसकती हुई गायें भी दिखाई दीं। उनके लिए यथाशक्ति चारे-पानी की व्यवस्था की गयी परन्तु समस्या इतनी कठिन थी कि यह बन्दोवस्त बहुत थोड़े पैमाने पर ही हो सका। यह भी पता चला कि अच्छी हालत के द्विजाति के लोगों ने भी पानी और चारे की कमी के कारण बेकाम गाय-बैलों को मरने के लिए जंगल में छोड़ दिया है।

ज्यादातर घरों में इस प्रकार की वारदातें हो चुकी थी इसलिए आपस की निन्दा-स्तुति की भी गुञ्जाइश नहीं थी।

यहीं के किसी गाँव में एक दिन दोपहर में पहुँचा। धरती गर्मी से धू-धू करके जल रही थी। अंगारों के समान तपती हुई रेत की आँधी चल रही थी। तालावों और कुँओं में पानी कभी का सूख गया था। लोग १०-१५ मील की दूरी से पानी लाकर प्यास बुझाते थे।

अधिकांश लोग गाँव और इलाका छोड़कर चले गये थे, कुछ ब्राह्मण और बनिये बचे हुए थे। यहीं मैंने हमीद खाँ भाटी के बारे में सुना और उसके घर जाकर मिला।

घर कच्चा था पर साफ-सुथरा और गोबर से लिपा-पुता। हमीद खाँ की उम्र ६५-७० वर्ष के लगभग थी। शरीर का ढाँचा देखकर पता लगा कि किसी समय काफी बलिष्ठ रहा होगा। अब तो हड्डियाँ निकल आयी थी, चेहरे पर भयंकर उदासी छायी हुई थी।

दुआ-सलाम के बाद मैंने पूछा—खाँ साहब, गाँव के प्रायः सारे लोग चले गये हैं फिर आप क्यों यहाँ इस प्रकार की किल्लत में अकेले रह रहे हैं ?

वह कुछ देर तक तो मेरी तरफ फटी-फटी आँखों से देखता रहा फिर कहने लगा—अल्लाह मालिक है, उसका ही भरोसा है। कभी-न-कभी तो वर्षा होगी ही। बेटे और बहुएँ, बच्चों और धन (यहाँ गाय-बैल, ऊँट आदि को धन कहते हैं) को लेकर एक महीने पहले ही मालवा चले गये हैं। मुझे भी साथ ले जाने की बहुत जिद्द करते रहे, पर भला आप ही बताइये, अपनी धौली और भूरी दोनों को छोड़कर कैसे जाऊँ। इन दोनों से तो एक कोस भी नहीं चला जाता (धौली और भूरी इसकी बूढ़ी गायें थीं जिनमें एक लंगड़ी और दूसरी बीमार थी)।

आज इनकी इस प्रकार की हालत हो गयी है, नहीं तो दोनों ने न जाने कितने नाहर भेड़ियों से मुठभेड़ ली है। आस-पास में दूध भी इनके बराबर गाँव में किसी गाय के नहीं था। ३-४ सेर तो बछड़े ही पी जाते फिर भी १०-१२ सेर प्रत्येक का हमारे लिए बच जाता।

ये दोनों मेरे घर की ही बेटियाँ हैं, जिस वर्ष मेरे छोटे लड़के फत्ते का जन्म हुआ था उसके लगभग ही ये दोनों जन्मी थीं। बीस वर्ष तक हमलोग इनका दूध पीते रहे, अब आप ही बताइये बुढ़ापे में इन्हें कहाँ निकाल दूँ। भला कोई अपनी बहन-बेटी को घर से थोड़े ही निकाल देता है। बातें करते हुए उसकी आवाज रुँआसी हो गयी थी, देखा उसकी धुंधली आँखों से टप-टप आँसू गिर रहे हैं।

बातें तो और भी करना चाहता था परन्तु इतने में सुनाई दिया कि बाहर के सहन में धौली और भूरी रंभा रही हैं, शायद भूखी या प्यासी होंगी। हमीद खाँ उठकर बाहर चला गया।

गाँव के मुखिया पं० बंशीधर के साथ ८-१० व्यक्ति रात में मिलने को आये। उनके कहने के अनुसार ५० वर्षों में ऐसा भयंकर अकाल नहीं पड़ा था।

मैंने हमीद खाँ के बारे में बात करनी चाही, परन्तु ये लोग टाल गये। उन सबके चले जाने के बाद एक युवक ठहर गया। उसने बताया कि यद्यपि ये लोग गाँव में सबसे ज्यादा सम्पन्न हैं परन्तु इन्होंने अपनी बूढ़ी गायों और बैलों को सबसे पहले घर के बाहर निकाल दिया। ये हमीद खाँ को पहले दर्जे का मूर्ख कहते हैं।

उसने कहा—सच पूछिये तो हमीद खाँ भी जिद्दी कम नहीं है। अपने लिए दो जून खाना नहीं जुटा पाता, पर इन दोनों गायों पर जान देता है। दिन में धूप बहुत हो जाती है, इसलिए दो बजे रात में उठकर ५ मील पर के तालाब से दोनों के लिए एक मटका पानी लाता है। घर वाले जो अनाज छोड़कर गये थे, उसमें से बहुत-सा बेचकर इनके लिए चारा और भूसा खरीद लिया। जब वह चुक गया तो अपना मकान पं० बंशीधर जी के यहाँ ऊँचे व्याज पर गिरवी रखकर और चारा लिया है। मुझे दूसरे दिन सुबह ही जैसलमेर की तरफ जाना था इसलिए उस युवक को बिदा किया।

गर्मी के मौसम में भी इस तरफ रातें ठंढी हो जाती हैं परन्तु मुझे नींद नहीं आ रही थी। सोच रहा था, क्या वास्तव में ही हमीद खाँ मूर्ख और जिद्दी है। बातचीत से तो ऐसा नहीं लग रहा था। हाँ, एक बात समझ में नहीं आयी, वह तो मुसलमान है, जिसके लिए गौ माता नहीं है फिर क्यों इन दो बेकाम गायों के पीछे नाना प्रकार के कष्ट सहकर, तिल-तिल करके स्वयं मृत्यु की तरफ अग्रसर हो रहा है। अपना एक-मात्र मकान इनके चारे-पाले के लिए गिरवी रख दिया है। थोड़े दिनों बाद मूल और व्याज बढ़कर इतना होगा कि चुकाना असम्भव हो जायगा। जब उसके बाल-बच्चे मालवा से थके-हारे वापस आयेंगे तो उन्हें शायद अपना यह पैत्रिक घर छोड़ देना पड़ेगा।

जाने से पहले एक बार फिर हमीद खाँ से मिलने की इच्छा हुई। बहुत सुबह वहाँ जाकर देखा कि वह धौली और भूरी के शरीर पर तन्मय होकर हाथ फेर रहा है और वे दोनों बड़ी ही करुण दृष्टि से उसकी तरफ देख रही हैं—शायद कह रही होंगी कि सब गाँव छोड़कर चले गये, फिर तुम क्यों इस प्रकार भूखे-प्यासे रहकर मृत्यु के मुख में जा रहे हो। हमें अपने भाग्य पर छोड़कर बच्चों के पास चले जाओ।

सोसाइटी की तरफ से थोड़ी बहुत व्यवस्था करके मन-ही-मन उस अपढ़ मुसलमान को प्रणाम करके भारी मन से उस गाँव से रवाना हुआ। १५ वर्ष बाद भी हमीद खाँ का वह गमगीन चेहरा आजतक भुला नहीं पाया हूँ। अभी तक मन में यह जिज्ञासा बनी हुई है कि वास्तविक गोरक्षक उस गाँव के पं० वंशीधर और लाला रामकिशन हैं या हमीद खाँ भाटी।

———

शिवजी भैया

कुछ इस प्रकार के व्यक्ति होते हैं, जिनसे मिलते-जुलते लोग हर काल, समाज और देश में मिल जाते हैं।

मैं शरत् बाबू का उपन्यास "बिराज बहू" पढ़ रहा था। उसमें नीलाम्बर चक्रवर्ती के बारे में पढ़कर मुझे राजस्थान के शिवजी-रामजी की याद आ गयी। अगर यह पुस्तक उस अंचल के किसी लेखक द्वारा लिखी गयी होती तो जानकार लोगों को नीलाम्बर के चरित्र में शिवजी-रामजी का भ्रम होता।

इस कथा के नायक का जन्म आज से १०० वर्ष पहले शेखावाटी के एक कस्बे में हुआ था। पिता का देहान्त बहुत पहले हो गया था। साधारणतया सम्पन्न गृहस्थी थी। घर में माता और दो भाई थे।

माता यद्यपि पढ़ी-लिखी तो नहीं थी परन्तु बहुत ही चतुर और बुद्धिमती थी। पति के मरने के बाद दोनों पुत्रों को अच्छी शिक्षा दी। घर-गृहस्थी को भी सम्हाल कर रखा। दोनों भाइयों में आपस में इतना प्रेम था कि गाँव के लोग इनको राम-लक्ष्मण की जोड़ी की उपमा देते थे। उस समय की रीति के अनुसार दोनों के विवाह बचपन में ही हो गये थे।

एक दिन बड़े भाई रामकिशन ने बम्बई जाकर काम करने का विचार माता के सामने रखा। यद्यपि उसकी आयु तो केवल २० वर्ष की ही थी परन्तु पिता का साया सिर पर था नहीं, जो कुछ पास में था वह पिछले वर्षों में खर्च हो गया था इसलिए भारी मन से माता ने आज्ञा दे दी।

छोटे भाई शिवजीराम और पत्नी को वृद्धा माता की सेवा के लिए घर पर छोड़कर वह बम्बई के लिए विदा हो गया। शिवजीराम के जिम्मे कुछ काम तो था नहीं, इसलिए भाई के छोटे बच्चे को खेलाता रहता और गाँव में साधु-संत आते उनकी सेवा में सबसे आगे पहुँच जाता।

सुबह जल्दी उठकर नित्य-कर्म के लिए तीन मील दूर जंगल में एक कुआँ था, वहाँ चला जाता—साथ में ४-५ सेर अनाज ले जाता जो वहाँ पक्षियों

को चुगा देता। वहाँ से आ करके अपनी दो गायों को दाना-पानी खिलाता, उनके ठाण की सफाई आदि सब काम उसके ही जिम्मे था। फिर स्नान करके नियम से रामजी के मन्दिर जाता, वे उनके कुल देवता थे।

देश में रहकर उसने वैद्यक का और नाड़ी-ज्ञान का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था इसलिए बचे हुए समय में गरीब रोगियों की चिकित्सा करता रहता—बहुतों को दवाई के सिवाय पथ्य भी अपने पास से देना पड़ता।

इन सबके सिवाय उसने एक नियम यह भी बना रखा था कि गाँव में किसी की भी मृत्यु हो, वहाँ जरूर पहुँच जाता और चलेवे के सारे कामों में पूरे मनोयोग से हिस्सा लेता। चाहे बैसाख-जेठ की गर्मी हो या पौष-माघ की सर्दी की रात, ऐसा कभी नहीं हुआ कि शिवजीराम ऐसे मौके पर नहीं पहुँचा हो।

उन दिनों छुआछूत का बहुत विचार था परन्तु उसकी मान्यता थी कि मृत्यु के बाद भगवान की जोत में जोत मिल जाती है। मृतक की कोई जाति नहीं होती। इसलिए गरीब हरिजनों के यहाँ भी ऐसे मौकों पर पहुँच जाता। गाँव में और आस-पास के देहात में सब उसको शिवजी भैया कहकर पुकारते थे।

माता तो धार्मिक भावना की थी और उसकी प्रेरणा से ही शिवजीराम की इन कामों में रुचि हुई थी परन्तु पत्नी और भौजाई बराबर नाराज रहती, कहतीं—'सब ऊल-जलूल काम तुम्हारे जिम्मे पड़े हैं।'

कभी-कभी गाँव के संडे-मुसंडे भी बीमारी या कष्टों का बहाना करके ठग के ले जाते थे पर शिवजीराम के पास आकर शायद ही कोई निराश लौटा हो। बड़ा भाई ३-४ वर्षों से देश आता और २-२ महीने रहकर फिर बम्बई चला जाता। माता का देहान्त होने के बाद पत्नी और पुत्र को भी वह अपने साथ बम्बई ले गया। देश में केवल शिवजीराम पत्नी और बच्चों के साथ रह गये।

१९०१ में बम्बई में जो महामारी हुई उसमें रामकिशन की मृत्यु हो गयी। उसकी विधवा पत्नी और १४ वर्ष का पुत्र रामदयाल दोनों रोते-बिलखते देश के गाँव में आ गये। शिवजीराम ने तो कभी कमाया नहीं

था परन्तु अब सारा भार उसपर पड़ गया। बम्बई नहीं जाकर अपने कस्बे में ही गल्ले की दूकान कर ली, भतीजे को भी साथ ले जाकर काम सिखाने लगा।

दुकानदारी में जो सूझ-बूझ और चालाकी चाहिए, उसका शिवजीराम में सर्वथा अभाव था। लोग उधार ले जाते' वापस देते नहीं। वे जानते थे, शिवजीराम कभी कचहरी जाकर अदायगी के लिए नालिश नहीं करेगा।

आखिर २-३ बर्ष बाद नुकसान देकर दूकान उठा देनी पड़ी। इस बीच भतीजा रामदयाल अपने पिता की तरह ही काफी होशियार हो गया और बम्बई चला गया।

रामदयाल के पिता का वहाँ के बड़े व्यापारियों से अच्छा सम्पर्क था और उसकी ईमानदारी की भी साख थी। बम्बई जाकर उसने काटन एक्सचेंज में अपने पिता के नाम के पुराने फर्म को फिर से चालू कर लिया।

संयोग ऐसा बना कि थोड़े वर्षों में ही काम जम गया और उसके पास लाखों रुपये हो गये।

कई बार चाचा को बम्बई आने के लिए रामदयाल ने लिखा परन्तु देश में इतने तरह के काम रहते शिवजीराम बम्बई न जा सका, बाद में द्वारका-धाम की यात्रा के समय उसको सपरिवार बम्बई ठहरने का मौका मिला। वहाँ अपने भतीजे का वैभव और सुनाम देखकर उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। रामदयाल ने और उसकी पत्नी ने उन्हें सदा के लिए वहीं रहने का आग्रह किया परन्तु उसका मन इस व्यस्त महानगरी में नहीं लगा और थोड़े दिनों बाद ही वापस राजस्थान आ गया। अब शिवजी भैया की जगह सेठ शिवजीराम हो गया, दान-धर्म की मात्रा बढ़ गयी परन्तु प्रौढ़ हो गया था इसलिए पहले जितनी भाग-दौड़ नहीं कर पाता था।

इतने गुणों के बावजूद उसमें एक कमी रही कि घर की समस्याओं की तरफ कभी ध्यान नहीं दिया। दोनों लड़कियों का विवाह तो अच्छे घरों में हो गया परन्तु एकमात्र लड़का लिख-पढ़ नहीं पाया।

कुछ ऐसे लोग भी थे जिनको शिवजीराम के यश और मान-बड़ाई से ईर्ष्या होने लगी। उन्होंने बम्बई में रामदयाल के कान भरने शुरू किये कि

इतनी मेहनत करके कमाते तो तुम हो और वाह-वाही तथा सेठाई सब तुम्हारे चाचाजी की होती है। उसकी स्त्री तो पहले से ही भरी बैठी थी पर पति के डर से चुप थी। रामदयाल स्त्री-बच्चों सहित बम्बई से अपने गाँव आया। वास्तव में ही, जो बात लोगों ने कही थी वह सही निकली। चारों तरफ सेठ शिवजीराम की प्रशंसा हो रही थी। वे जिस तरफ भी निकल जाते लोग खड़े होकर जुहार राम-राम करते। सुबह-शाम सैकड़ों अभ्यागतों के लिए अन्न-छेत्र चालू था।

मौका देखकर रामदयाल ने चाचा से बँटवारे के लिए कहा। एक बार तो शिवजीराम को बहुत ही कष्ट हुआ परन्तु तुरन्त ही सम्हल कर बोले— बेटा, कमाया हुआ तो सब तुम्हारे पिताजी का और तुम्हारा ही है, मैंने तो उम्र भर केवल खर्च ही किया है इसलिए जैसे चाहो कर लो, मुझे इसमें क्या कहना है। एक कागज पर सम्पत्ति का ब्यौरा लिखा गया।

बड़ी हवेली और बम्बई का फर्म रामदयाल ने अपने लिए रखना चाहा। नकद रुपये का दो बराबर का हिस्सा हुआ। अपना मकान छोड़कर जाने में बहुत क्लेश होता है परन्तु शिवजीराम के चेहरे पर जरा भी शिकन नहीं आयी और कहने लगा कि तुम्हारी मान-बड़ाई और इज्जत के लिए बड़ी हवेली में रहना सर्वथा उचित भी है। मैं कल ही छोटी हवेली में चला जाऊँगा। अब रही नकद रुपये की बात सो मुझे तो अन्दाज ही नहीं था कि अपने पास इतना सारा रुपया है। मैं भला इनको कहाँ सम्हाल पाऊँगा। देवदत्त को तो तुम जैसा है, जानते ही हो, इसलिए इनको तुम अपने पास ही रहने दो—खर्च वगैरह के लिए जितनी जरूरत होगी—मँगवा -लिया करूँगा। अन्तिम वाक्य कहते हुए, उसकी आँखें जरूर गीली हो गयी थीं। रामदयाल सोचने लगा कि न तो चाचाजी ने हिसाब की ही जाँच की, न हवेली छोड़ने में आपत्ति की और न बम्बई के इतने जमे हुए फर्म की साख (गुडविल) के बदले में ही कुछ चाहा। बल्कि सारा रुपया भी मेरे पास ही छोड़ रहे हैं।

उसे अपने आप पर ग्लानि और शर्म हो आयी। रोता हुआ चाचा के पैरों पर गिरकर क्षमा माँगने लगा।

कहने लगा कि लोगों के बहकावे में आकर मैंने यह नासमझी की है। मुझे किसी प्रकार का भी बँटवारा नहीं करना है। बड़े भाग्य से आप सरीखे चाचा मिलते हैं। पिताजी तो बचपन में ही छोड़कर चले गये। अगर आप पढ़ा-लिखाकर मुझे योग्य नहीं बनाते तो भला आज हम सबका क्या होता।

कुछ दिनों बाद बम्बई जाते समय अपने छोटे भाई देवदत्त को भी साथ ले गया। वहाँ जाकर उसकी पुरानी आदतें छूट गयीं और वह भी काम में लग गया।

मैंने जब शिवजीरामजी को देखा था उस समय वे ८० वर्ष के वृद्ध थे। संयम और त्याग का जीवन रहा इसलिए उस समय भी स्वास्थ्य अच्छा था। दान-धर्म के तौर-तरीके बदल गये थे इसलिए सदावर्त और ब्राह्मण-भोजन के साथ-साथ, उनके द्वारा बनाये हुए स्कूल, अस्पताल और जच्चाघर भी जनता की सेवा कर रहे थे।

भाग्य-चक्र

उन्नीसवीं सदी की बात है। फतेहपुर (शेखावाटी) से रामगढ़ बारात जा रही थी। बहुत से हाथी, घोड़े, रथ और ऊँट थे, जो जरीदार रेशमी कपड़ों की 'झोल' के साथ चाँदी और सोने के गहनों से सजे थे। बारातियों की संख्या हजार तक पहुँच गयी थी। गाँव के गरीब-से-गरीब घर का आदमी भी बारात में निमंत्रित था। यह बारात थी सेठ रामबिलास के पुत्र नन्दलाल के विवाह की, जिसकी चर्चा बाद के बहुत वर्षों तक होती रही।

उनका बड़े पैमाने पर भिवानी में कारबार था। उन दिनों व्यापार की यह बड़ी मंडी थी। राजस्थान की चीजें दूसरे प्रान्तों में और वहाँ की राजस्थान में आने-जाने का भिवानी ही माध्यम था।

सेठ के अपने परिवार में कुल चार व्यक्ति थे। स्वयं, पत्नी, पुत्र और पुत्र-वधू। परन्तु वे इतने उदार और कुटुम्ब-पालक थे कि दूर के बहुत से सम्बन्धी भी उन पर आश्रित थे। उनके दरवाजे से शायद ही कभी कोई अतिथि या याचक निराश लौटा हो। यह उदारता यों किंवदन्ती बन गयी थी कि उन्होंने गीदड़ों के लिए भी सर्दी से बचाव के लिए रजाइयाँ बनवायी थीं।

प्रौढ़ होने के पहले ही सेठ का देहान्त हो गया और इसके साथ ही इस परिवार का संकटकाल भी प्रारम्भ हो गया। गाँव के सारे लोग दुःखी होकर रो रहे थे, जैसे कि उनके परिवार का ही कोई मर गया हो। साथ ही एक और दुर्घटना घट गयी। उनके शव की प्रदक्षिणा के लिए स्त्रियाँ जब सेठानी को लाने गयी तो देखा कि वह भी इहलोक छोड़कर पति की आत्मा के पास जा चुकी है। दोनों की अर्थी साथ-साथ उठी और एक ही चिता में दाह-संस्कार किया गया। शायद ही गाँव और आस-पास का कोई आदमी बचा होगा, जो इनकी शवयात्रा में शामिल न हुआ हो।

विशाल हवेली में अब उनका पुत्र, अपनी पत्नी तथा दो बच्चों के साथ

रह गया था। मनुष्य का भाग्य और फिरत-घिरत की छाया को एक ही उपमा दी गयी है। सूतक की समाप्ति के बाद आये हुए मेहमान जब चले गये तो नन्दलाल कारबार सम्भालने के लिए भिवानी गया। वहाँ उसे अपनी आर्थिक स्थिति की जो जानकारी मुनीमों से मिली तो उसके आश्चर्य और दुःखका ठिकाना न रहा। पिछले कई वर्षों से व्यापार तो घाटे में चल रहा था, जबकि दान-पुण्य और दूसरे खर्चे प्रति वर्ष बढ़ते जा रहे थे।

धन्धा बन्द हो गया। मुनीम गुमाश्ते छोड़ कर चले गये। कर्ज चुकाने में पत्नी के सारे गहने बिक गये और बड़ी हवेली रेहन रख दी गयी। वे सब एक छोटे से भाड़े के मकान में रहने लगे। परिस्थिति यहाँतक बिगड़ती गयी कि दोनों समय का खाना जुटना भी मुश्किल हो गया। पत्नी बड़े घर की बेटी थी और बड़े घर में ही बहू बनकर आयी थी। किसी समय बीसों नौकर और नौकरानियाँ घर के काम के लिए थे, पर अब रसोई के अलावा बर्त्तन मांजना और बुहारना-झाड़ना आदि सब काम उसे स्वयं करने पड़ते थे। थोड़ी बहुत सहायता बच्चे कर देते थे। मुँह-अन्धेरे ही पति-पत्नी कुएँ से पानी ले आते, क्योंकि दिन चढ़ने के बाद लोगों की भीड़ में उन्हें संकोच होता था।

जब कष्ट सीमा से बाहर होने लगे तो पत्नी ने अपने भाइयों के पास सहायता के लिये जाने को कहा, जिनका मालवा तथा दूसरे देशावरों में बड़े पैमाने पर कारबार था। जिन लोगों ने सब कुछ जानते हुए भी बहन और उसके बच्चों की संकट के समय खबर भी नहीं ली, उनके यहाँ सहायता के लिये जाने की इच्छा तो नहीं थी, पर पत्नी के बार-बार के आग्रह के कारण उसने उज्जैन जाना तय कर लिया। विदा के समय पत्नी ने किसी प्रकार व्यवस्था करके रास्ते के लिए खाने का सामान तैयार कर एक कपड़े में बाँध दिया।

एक शाम को तालाब के किनारे हाथ-मुँह धोकर खाने की तैयारी में था कि कुछ साधु-महात्मा आ गये और भिक्षा माँगी। जिसके घर में पिता के समय सैकड़ों अतिथि-अभ्यागत नित्य भोजन पाते थे—वह भला ना कैसे करता। स्वयं भूखा रहकर बचा हुआ सारा सामान उन्हें दे दिया।

दूसरे दिन दोपहर बाद जब वह ससुराल की कोठी पहुँचा तो रास्ते की थकावट एवं भूख के कारण कैसा ही लग रहा था। उसके दोनों साले वहाँ कई मित्रों के साथ बातचीत कर रहे थे। उन्होंने न तो उसकी आवभगत की और न बहन या बच्चों का कुशल-क्षेम पूछा। शाम होने पर मुनीमों को उसे ढाबे में खिलाने को कहकर घर चले गये।

इस प्रकार अपमानित होने पर उसके दुःख और ग्लानि की सीमा न रही। परन्तु गाँव लौटने का किसी प्रकार का साधन नहीं था। इसलिये उसी शहर में अपने एक मित्र के यहाँ गया, जिसकी किसी समय उसके पिता ने अच्छी सहायता की थी।

सब मनुष्य एक से नहीं होते। यह मित्र बहुत ही प्रेम से मिला और सारी स्थिति की जानकारी के बाद हर प्रकार की सहायता का वचन दिया। दूसरे दिन से ही फिर से रामबिलास नन्दलाल की फर्म स्थापित हो गयी। देशावरों में इस फर्म की ईमानदारी और कार्य-क्षमता की साख थी। इसलिए पहले के व्यापारिक सम्बन्ध फिर जुड़ गये तथा थोड़े समय में ही व्यवसाय जम गया।

एक वर्ष बाद वह लखपति बनकर घर लौटा। पत्नी ने भाइयों के बारे में समाचार पूछा तो राजी-खुशी कहकर दूसरी बातों में टाल दिया। उसको तो यही भरोसा था कि मायकेवालों के सहयोग और कृपा से ही यह सब हुआ है।

एक महीने बाद ही फिर वह उज्जैन आ गया और इसबार ज्यादा हिम्मत से व्यापार करने लगा। भाग्य ने साथ दिया और दो वर्ष बाद, दूसरी बार देश लौटा, तब नन्दलाल करोड़पति हो गया था। पिता की बनायी हुई बड़ी हवेली वापस खरीद ली तथा फिर से एकबार मुनीम-गुमाश्ते, नौकर-चाकरों तथा कुटुम्बियों से घर भर गया।

ससुराल में साले के लड़के का विवाह था। निमन्त्रण देने के लिये स्वयं वर का बड़ा भाई कुंकुम-पत्रिका लेकर आया था, जो पत्र वह साथ लाया था, उसमें बहुत वर्षों से बहन और बच्चों को नहीं भेजने का उलाहना था एवं इस अवसरपर सबको जरूर-जरूर बुलाया था।

नन्दलाल की इच्छा वहाँ जाने की नहीं थी, परन्तु पत्नी बार-बार भाइयों के उपकार का बखान कर रही थी और इस बीच में उसने मायके जाने की सारी तैयारी भी कर ली थी। अतः विवाह में शामिल होने के लिए वे सब रवाना हुए। वह स्वयं तो घोड़े पर था, पत्नी और बच्चे रथों में तथा दूसरे राजपूत सरदार, नाई, नौकर, दाई ऊँटों पर। रामगढ़ से एक कोस दूर पर ही अगवानी के लिये दोनों सालों के सिवाय गाँव के बहुत से प्रतिष्ठित व्यक्ति भी आये थे। पत्नी तो जनवासे में चली गयी और सेठ नन्दलाल के डेरे लगे एक बहुत सजी हुई कोठी में। रात्रि में भोजन के लिए हवेली में तैयारी की गयी थी। चाँदी-सोने के थालों में नाना प्रकार के व्यञ्जन सजे थे। खातिरदारी में परिवार के सारे लोग हाथ बाँधे खड़े थे। स्त्रियाँ मधुर रागिनी में सीठनें गा रही थीं।

भोजन के लिये कहा गया तो उसने अपने हाथ की हीरे की अंगूठी को थाल में रखकर उसे खाने के लिए कहा। उन लोगों के बात समझ में नहीं आयी। दूसरी बार आग्रह करने पर उसने गले के पन्ने के हार को निकाल कर उसे भोजन करने को कहा। किसी बड़े-बूढ़े ने कहा—"जँवाईराज हंसी-दिल्लगी बहुत हो चुकी, अब कृपया भोजन कीजिये।"

वह बिना भोजन किये उठ गया और कहने लगा कि यह मान-सम्मान तो मेरे हीरे-पन्ने और धन-दौलत का हो रहा है, वर्ना जब मैं ३ वर्ष पूर्व इनके यहाँ आया था तो इन्होंने मुझे पहिचाना तक नहीं था। पत्नी को वास्तविकता की जानकारी कराने के लिये मुझे आना पड़ा, वर्ना मैंने उसी दिन से इन लोगों से किसी प्रकार का भी सम्बन्ध न रखने की प्रतिज्ञा कर ली थी।

महिलाओं में बैठी पत्नी को बुलाकर, अपने बच्चों तथा दूसरे साथ के लोगों को लेकर उसी समय फतेहपुर रवाना हो गया।

विवाह का अवसर था। घर नाते-रिश्तेदारों से भरा था। परन्तु इतनी बड़ी वारदात के बाद किसी की भी हिम्मत उन्हें रोकने की नहीं हुई।

———

गांधीजी का स्वराज्य

गांधीजी ने स्वराज्य मिलने के कुछ ही दिनों पहले कहा था कि अगर स्वराज्य मिल गया तो राष्ट्रपति भवन और राज्यपाल भवन अस्पताल, गरीब विद्यार्थियों के लिये आवासगृह तथा स्कूल व कालिजों के काम में लाये जायेंगे। राष्ट्रपति और राज्यपाल साधारण भवनों में रहेंगे।

हमें स्वराज्य मिले २० वर्ष हो गये लेकिन वे सब बड़े-बड़े प्रासाद आज भी उसी प्रकार हैं बल्कि उनपर होनेवाला खर्च पहले के अनुपात में दुगुना-तिगुना हो गया है। इस समय राष्ट्रपति-भवन का कुल खर्च ५० लाख रुपये प्रतिवर्ष है और राज्यपालों के आवासों का औसत खर्च प्रतिवर्ष १ करोड़ रुपये है। इनके बारे में कुछ चर्चा होती है तो यह कहकर टाल दिया जाता है कि विदेशों के विशिष्ट अतिथियों को ठहराने के लिये इन बड़े-बड़े भवनों की आवश्यकता है।

भारत से बहुत अधिक सम्पन्न देशों में भी अतिथियों के लिये इस प्रकार के महलों की व्यवस्था नहीं है। हमारे भूतपूर्व प्रधानमन्त्री श्री नेहरू जब इङ्गलैंड जाते थे तो उन्हें वहाँ के किसी प्रसिद्ध होटल में ठहरा दिया जाता था। मैं जब सन् १९६० में मास्को में था उस समय मैंने यह देखा कि केन्द्रीय-मन्त्री श्री पाटिल को मास्को के एक होटल में ही ठहराया गया था।

हम राष्ट्रपति और राज्यपालों की बात छोड़ भी दें तो हमारे केन्द्र और राज्यों के मन्त्री, राज्य-मन्त्री, उप-मन्त्री और संसदीय सचिव, जिनकी संख्या ३५० के करीब है, इन सब पर भी करदाताओं की एक बहुत बड़ी रकम प्रतिवर्ष खर्च होती है। इनके दफ्तरों का काम प्रायः सचिव या अफसर देखते हैं, क्योंकि इन सबको तो विभिन्न प्रकार के जलसों और उद्घाटनों से ही फुरसत नहीं मिलती जो ये कार्यालय के कामों में समय दे सकें। यहाँ तक कि कई बार मन्त्री महोदय किसी पेट्रोल पम्प या बीड़ी के कारखाने का उद्घाटन करने के लिये भी चले जाते हैं। इन दौरों के लिये

मोटरों और अफसरों का खर्च तो सरकारी है ही, इसके अलावा डी० ए० और टी० ए० के रूप में भत्ता अलग से बनता है।

मेरी जान-पहचान के एक मित्र हैं, जिनके घर की स्थिति शुरू में बहुत ही साधारण थी। मित्रों की सहायता और छात्रवृत्ति से वह किसी प्रकार पढ़-लिख कर राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्रों में काम करने लगे। सन् १९५७ में उन्हें विधानसभा का टिकट मिल गया और अपने क्षेत्र से वह चुन लिये गये। नये मन्त्रि-मण्डल में उनको भी लिया गया। मैंने उनको बधाई का तार भेजा। उसके बदले में धन्यवाद ज्ञापनका जो उनका पत्र आया उसमें मुझे थोड़ा-सा अहंभाव लिये हुए कुछ औपचारिकता-सी लगी लेकिन उस समय मैंने इस बात पर ध्यान नहीं दिया।

कुछ महीनों बाद जब मैं राजधानी गया तो उनके बंगले पर मिलने गया। फाटक पर वर्दीधारी सिपाही, अच्छी शानदार कोठी, सुन्दर करीने से लगाया हुआ बगीचा और पोर्टिको में बड़ी-सी मोटर। अर्दली से पूछने पर पता चला कि साहब घर पर ही हैं। उनके निजी सचिव को अपना कार्ड दिया और ड्राइङ्गरूम में प्रतीक्षा करने लगा। वहाँ और भी पाँच-सात व्यक्ति पहले से ही बैठे थे।

पुराना परिचय : नया रंग

ड्राइङ्गरूम का फरनीचर ऊँचे दर्जे का था। नीचे कीमती गलीचा बिछा था। कमरे में गांधीजी और नेहरूजी की तसवीरें टँगी थीं, तीन-चार उनके अपने स्वागत-समारोहों की भी।

ड्राइङ्गरूम में बैठा हुआ मैं सोचने लगा कि आखिर पिछले तीन महीनों में ऐसी कौनसी बात हो गयी जिससे इनके और इनके परिवार के रहन-सहन में इतना फर्क आ गया।

आधे घण्टे की प्रतीक्षा के बाद वह भीतर से आये। कब आया, कहाँ ठहरा आदि उन्होंने पूछा। मुझे ऐसा लगा कि उनकी बातों में पुराने परिचय का अभाव और बड़प्पन का आभास है। हो सकता है कि दूसरे बहुत से लोग वहाँ बैठे थे इसलिये उनके सामने उन्होंने इस ढङ्ग से बात करना जरूरी समझा हो।

थोड़े दिनों बाद वह किसी सरकारी काम से कलकत्ता आये। उनके सचिव का फोन आया कि मन्त्रीजी आये हुए हैं और मुझे मिलने के लिये बुलाया है। मैं खुशी-खुशी उनके यहाँ जाता। लेकिन उनके सचिव की बात का लहजा कुछ जँचा नहीं और मैंने नम्रतापूर्वक टाल दिया। इसके पहले उनके पहुँचने की सूचना तार तथा पत्र द्वारा आ चुकी थी और ऐसा पता चला कि ये सूचनाएँ दूसरे कई लोगों को भी दी गयी थीं।

कुछ दिनों बाद मेरे एक मित्र ने मुझसे कहा कि वह कह रहे थे कि आप कलकत्ता में न तो उनको लेने के लिये स्टेशन आये और न उनसे मिले ही, इसलिये वह आपसे कुछ नाराज़ हैं।

जब नया मन्त्रिमण्डल बना तो उसमें वह नहीं लिये गये। उसके बाद, जैसा कि आमतौर से लोग करते हैं, उन्होंने भी एक खादी की संस्था और सहकारी समिति की स्थापना कर ली और अपना काम देखने लगे।

एक दिन अचानक ही वह मुझे दिल्ली स्टेशन पर मिल गये। छोटा-सा बिस्तर उनकी बगल में था और थर्ड क्लास में जगह खोज रहे थे। वैसे मन्त्री बनने के पहले भी वह थर्ड क्लास में ही यात्रा करते थे पर इसबार मुझे देखकर वह बहुत झेंप गये।

तीन वर्ष : तीन रूप

कहने का तात्पर्य यह है कि मैंने तीन वर्षों में एक मनुष्य के तीन रूप देखे। पहला : खादी की ऊंची धोती, बिना इस्तिरी किये हुए कपड़े, अभावग्रस्त परिवार, लेकिन हर प्रकार के सेवा-कार्य करने के लिये तैयार। दूसरा : बगुले के पंख से सफेद कपड़े, सजा हुआ ताप नियन्त्रित बंगला, बड़ी कार और तौर-तरीकों में अभिमान की स्पष्ट झलक। अब तीसरा रूप था : बिगड़ी हुई आदतों के कारण बढ़े हुए खर्चे की पूर्ति के लिये खादी या सहकारी संस्था के नाम से कुछ कमाना और अगर उसमें भी सफल न हुए तो फिर वही साधारण रहन-सहन, पर अब झेंप के साथ। इनमें से कुछ अपवादस्वरूप उदाहरण भी हैं लेकिन उनकी संख्या बहुत ही कम है।

मैं एक दिन स्टेट ट्रेडिंग के गैरिज में गया, जहाँ विदेशी दूतावास की मोटरें बिकती हैं। बहुत ही सुन्दर और बड़ी-बड़ी गाड़ियाँ थीं। इम्पाला,

कैडिलेक, मर्सीडीज और एक-दो रोल्स भी। जो सबसे कीमती और अच्छी गाड़ियाँ थी वे पहले ही से मन्त्रियों तथा उप-मन्त्रियों के लिये सुरक्षित हो गयी थीं और बाकी के टेण्डर लिये गये थे जो ५० हजार से १ लाख रुपये तक के थे।

मारवाड़ी समाज की नयी-पीढ़ी के सम्बन्ध में मैंने लिखा था कि आज के धनी युवक किस प्रकार विलासिता और बड़ी-बड़ी मोटरों में रुपया बरबाद करते हैं। लेकिन यहाँ आनेपर मैं सोचने लगा कि वे तो सब वैसे वातावरण में ही पले हैं और बापदादों की कमाई का उनके पास धन है लेकिन इन नेताओं और मन्त्रियों में से तो बहुत से गांधीजी और सरदार पटेल के साथ रहे हैं, कई बार जेल भी गये हैं और अर्थ-सङ्कट के दिनों में कभी-कभी भूखे भी रहे हैं। फिर इन सबके मनमें यह भोगलिप्सा कहाँ छिपी पड़ी थी !

हमारा देश गरीब है। इसमें दो मत नहीं है। आये दिन हमें विदेशों से अन्न या दूसरी आवश्यक वस्तुएँ उधार या सहायता के रूप में मँगानी पड़ती हैं। इन दिनों में तो हमारी भुखमरी के बारे में विदेशों में बहुत लज्जापूर्ण प्रचार हो रहा है। केरल में अमरीका से भूखे लोगों की तसवीरें लेने के लिये पत्रकार आ रहे हैं, तो हालैण्ड के बच्चे भारत की भूखी जनता के लिये धन इकट्ठा करके भेज रहे हैं। इन्हीं सब बातों का उदाहरण देकर देश के नेता कम खर्च करके बचत करने का उपदेश देते रहते हैं और साथ ही गांधीजी के उपदेशों और सादे-जीवन के बारे में भी बताते रहते हैं।

मैं नम्रतापूर्वक इन नेताओं और उपदेशकों से पूछना चाहता हूँ कि धार्मिक या सामाजिक मान्यताएँ तो मनुष्यमात्र के लिये समान रूप से लागू होती हैं फिर इनके लिये बड़े-बड़े बंगले, कीमती मोटरें, इनके बच्चों के लिये देहरादून और मसूरी के इङ्गलिश स्कूल, वर्ष में दो-तीन बार किसी-न-किसी बहाने इनकी विदेश यात्राएँ और इनके आये दिन के समारोह किस प्रकार औचित्यपूर्ण हैं जो इनके दूसरे साथियों के लिये नहीं जिन्होंने इन्हीं की तरह देशकी सेवा की थी, जेल भी गये थे, पर वे मन्त्री नहीं बन पाये इसलिये हर प्रकार के अभावों से ग्रस्त हैं। उनके बच्चों के लिये अच्छी शिक्षा तो दूर की बात है, साधारण स्कूल की फीस भी वे नहीं जुटा पाते।

मुझे फ्रांस की साम्राज्ञी मेरी अंतोनिता की याद आती है, जिसके बरसाई के महलों में नित्य नये जलसे और नाच-गाने होते रहते थे पर पेरिस की जनता भूख से मर रही थी। १९४६-४७ के चांगकाई शेक के समय चीन की भी याद आती है, जब वह और उसके मन्त्री अमरीका के आये हुए अरबों रुपयों से मौज उड़ा रहे थे और चीन की जनता भूख, ठण्ड और पीड़ा से कराह रही थी।

कहते हैं, इतिहास की पुनरावृत्ति अवश्यंभावी है। चाहे देश कोई भी हो फ्रांस, चीन या भारत। इसलिये आजके शासकों को समयानुसार इन सब बातों पर गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिये। इतिहास से सबक लेना चाहिये और उन्हें अपने रहन-सहन के तथा अन्य खर्चों को उसी सीमा और आदर्श-पद्धति के अन्तर्गत ले आना चाहिये जो स्वराज्य मिलने के पहले कांग्रेस ने निर्धारित की थी और जो गांधीजी की कल्पना और आकांक्षा थी।



मन्त्रीजी का जन्म दिन

किसी एक मन्त्रीजी के जन्म-दिन के उत्सव का निमन्त्रण-पत्र मिला। आयोजकों के नाम की ३ पेज की सूची थी। एक आयोजन कमेटी भी बनी थी—जिसके अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, संयोजक, खजांची के सिवाय ३१ व्यक्तियों की कार्यकारिणी थी।

जितनी बड़ी सूची थी उसके अनुरूप ही जलसा था। ऐसा लगा कि १५००-२००० निमन्त्रण-पत्र जरूर भेजे गये हैं, क्योंकि ७००-८०० दर्शक थे जिनके लिए बड़े से लान में छोलदारी लगाकर कुर्सियाँ सजायी गयी थी। विशिष्ट अतिथियों के लिए सुसज्जित ऊंचा मंच बनाया गया था—जिसे नाना प्रकार के फूलों से सजाया गया था। मंच पर गांधीजी, राष्ट्रपति, नेहरूजी के बड़े-बड़े चित्रों के सिवाय मन्त्रीजी का अपना बड़ा-सा चित्र भी था।

उत्सव प्रायः २-२॥ घण्टे चला। चाय, हल्का नाश्ता और ठंढे पेय की सुव्यवस्था थी। मंत्रीजी के बारे में इतनी बड़ी-बड़ी बातें कही गयीं जिनका पता शायद स्वयं उनको भी नहीं रहा होगा। गौरव-गाथा गाने वालों में आपस में होड़ लगी हुई थी—आमतौर पर किसी भी समझदार व्यक्ति को अपने बारे में अतिरंजित बड़ाई सुनकर संकोच-सा होता है परन्तु यहाँ तो मंत्री महोदय बड़े चाव से मुस्करा कर सुन रहे थे और कभी-कभी दूसरों के साथ-साथ स्वयं भी दाद दे देते थे।

सबसे पहले स्वागताध्यक्ष का भाषण हुआ (वे मंत्रीजी के ही किसी विभाग में ठेकेदारी का काम करते हैं) उन्होंने कहा कि मुझे मन्त्रीजी को बचपन से ही जानने का सौभाग्य रहा है और लोगों को इनकी मेधाशक्ति, वाक्‌चातुर्य और श्रमशीलता को देखकर पहले से ही यह पता चल गया था कि आगे जाकर ये देश के भाग्य-विधाता होंगे। दूसरे व्याख्यानदाता नगर के मेयर थे, उन्होंने स्वागताध्यक्ष द्वारा की गयी बड़ाई की ताईद तो की ही—परन्तु साथ में इतना और जोड़ दिया कि शुरू से ही ये ऊंचे दर्जे के

ईमानदार और सच्चरित्र रहे हैं। अन्तिम वाक्य सुनकर वहाँ बैठे हुए बहुत से जानकार स्त्री-पुरुषों को मुस्कराते हुए देखा गया।

इसी प्रकार एक के बाद एक कई प्रभावशाली व्यक्तियों के भाषण हुए, जिन सबका प्रयत्न यह दिखाना था कि वे मंत्रीजी के अधिक-से-अधिक नजदीकी मित्रों में हैं।

सोचने लगा कि पुराने राजा-बादशाहों के बन्दीगणों और भाटों में और इन आयोजकों में क्या फर्क है। उन राजाओं को तो हम आज मूर्ख और खुशामद-पसन्द कहते हैं। परन्तु आज के इन राजाओं को स्पष्ट बात कहकर नाराज करने की हिम्मत हमारे में नहीं है।

इतिहास में पढ़ा था कि रोम में एक सनकी बादशाह हुआ—जिसको कविता करने की धुन सवार हुई। मुशायरों में वह भी स्वरचित कविताएँ सुनाता था परन्तु उससे ज्यादा दाद (वाह-वाही) दूसरे कुछ बड़े कवियों को मिलती। नतीजा यह हुआ कि सारे बड़े-बड़े कवि पकड़ कर जेल भेज दिये गये।

बादशाह ने अपनी कविता का पाठ सुनने के लिए ५०० मुसाहिब नौकर रख लिये—जिनका काम कविता सुनने के समय वाह-वाह करना और हाथ ताली देना था।

एक प्रकार से हमारे आज के इन शासकों में भी कुछ उसी प्रकार की खुशामद सुनने की भावना बनती जा रही है—जब कि उनका राज्य तो पैत्रिक और स्थायी था पर इनकी वजारत जोड़-तोड़ से मिली हुई और अस्थायी है। ऐसे जलसों में दूसरे बड़े-बड़े नेता और मन्त्रीगण काफी संख्या में आते हैं, क्योंकि उनको भी तो कुछ समय बाद अपने जन्म-दिन पर इसी प्रकार की भीड़ और उत्सव की प्रतीक्षा लगी रहती है।

आज से सौ-दो सौ वर्ष पहले सम्पन्न व्यक्ति कुएँ, बावड़ी, धर्मशाला और प्याऊ लगाकर यश और नाम कमाते थे। आज वे बातें पुरानी हो गयी हैं और उनकी जगह स्कूल, कालेज और अस्पतालों ने ले ली है परन्तु ये तो सब बहुत अर्थ-साध्य काम हैं इसलिए बिना हर्रे और फिटकरी लगे चोखा

रंग लाने का मार्ग भी निकाल लिया गया है। वह है, अनेक चित्रों सहित अभिनन्दन ग्रन्थ तैयार करा के बड़े जलसे में स्वयं को समर्पित करवाना।

मेरे एक बुजुर्ग मित्र हिन्दी के मूर्धन्य कवि थे, वे राम के भक्त थे और दूसरे किसी की भी प्रशंसा में आमतौर पर कविता नहीं लिखते थे। एक दिन एक प्रभावशाली व्यक्ति का उनके पास किसी के लिए लिखे जाने वाले अभिनन्दन ग्रन्थ में कविता के लिए फोन आया। उन्होंने नम्रता से अस्वस्थता के कारण लिखने से नाहीं कर दी।

उसके बाद भी हर प्रकार से उन पर दबाव डाला गया। खैर! उन्होंने तो कविता नहीं दी परन्तु ग्रन्थ प्रकाशित होने पर देखा गया कि देश के प्रसिद्ध लेखकों, कवियों और नेताओं की रचनाएँ और सन्देश मन्त्रीजी के यशोगान में भरे पड़े थे। ग्रन्थ की साज-सज्जा तो हर प्रकार से दर्शनीय थी ही।

अभिनन्दन के सिवाय अपने नाम के पहले डाक्टर लिखने का भी इन विशिष्ट लोगों के लिए आजकल आम-प्रथा हो गयी है। विश्व-विद्यालयों के महत्त्वपूर्ण पदों पर पहले से ही अपने आदमियों को सिफारिश-कोशिश कर नियुक्त करवा दिया जाता है। वे जोड़-तोड़ बैठाकर वर्ष-दो-वर्ष में इन्हें डाक्टरेट दिला देते हैं।

कई मन्त्रियों और नेताओं के तो हर बड़े शहर में कुछ वैतनिक कार्य-कर्त्ता रहते हैं, जिनका वेतन उनकी सम्बन्धित किसी संस्था द्वारा दिया जाता है। उनका काम मन्त्रीजी की उस शहर या आस-पास की यात्रा के समय भीड़ को इकट्ठी करके जय बुलवाना और फूल मालाएँ पहनाना रहता है। इसके लिए कभी-कभी तो जय बोलने वालों को और माला पहनाने वालों को पैसा भी देना पड़ता है।

वैसे विश्व में उचित मान और बड़ाई पाने की इच्छा सबको रहती है, परन्तु इसके लिए जिस प्रकार के प्रयत्न आजकल हमारे यहाँ होने लग गये हैं—वे बहुत ही अवांछनीय और लज्जास्पद हैं।

वामपंथी कांग्रेसी

विश्व के प्रमुख राजनीतिज्ञों का मत है कि अगर १९५४ में हम तिब्बत पर चीन का प्रभुत्व स्वीकार न करते और इस बात को यू० एन० ओ० में ले जाते तो शायद चीन, जो आज इतना शक्तिशाली हो गया है, नहीं हो पाता। १९६२ में जो भारत पर हमला हुआ वह भी नहीं होता, क्योंकि उनको तिब्बत होकर ही नेफा या लद्दाख आने का रास्ता मिला था और अब तो सदा के लिये ही हमारी उत्तरी सीमा पर खतरा हो गया है।

तिब्बत में चीन को अपार सोना मिला और उसकी बढ़ती हुई जनसंख्या के लिये बहुत-सी जमीन भी। अगर उस समय हम डटकर विरोध करते तो अमेरिका, ब्रिटेन और शायद रूस और पाकिस्तान भी हमारा साथ देते, क्योंकि तिब्बत पर चीन का अधिकार होना इन सबके लिये भी समस्या की बात थी।

जानकार लोगों का कहना है कि उसके पीछे वामपंथी कांग्रेसी नेताओं की सलाह थी। वे पण्डितजी के नजदीक तथा विश्वासपात्र लोगों में से थे।

१९६२ में नेफा में जिस प्रकार से चीनियों द्वारा हमारी फौजों को क्षति उठानी पड़ी, उसके लिये सारी जिम्मेवारी एक सर्वोच्च सैनिक अफसर की बतायी जाती है—जो एकबार तो लड़ाई के बीच में ही बीमारी का बहाना करके दिल्ली चला गया था और दूसरी बार जब बामडीला पर चीनी सैनिकों का कब्जा हो गया, तेजपुर खाली करने का ऐलान हो गया तथा जिलाधीश द्वारा करेंसी नोट जला दिये गये। उस समय अपने सुसज्जित बंगले में आराम से सो रहा था। इस अफसर को भी, उस समय के सुरक्षा-मन्त्री मि० मेनन ने दूसरे बड़े-बड़े अफसरों को नाराज करके किसी खास कारण से ही इतना ऊँचा ओहदा दिया था। जबकि प्रत्यक्ष लड़ाई का उसे कुछ भी अनुभव नहीं था। चीनी आक्रमण के बाद इन वाम-पंथियों का प्रभाव बहुत कुछ घट गया और मेनन को तो एक प्रकार से कांग्रेस संसदीय

दल ने सुरक्षा-मन्त्री के पद से हटने के लिये बाध्य किया। कुछ समय बाद श्री केशवदेव मालवीय को भी सिराजुद्दीन काण्ड के कारण मन्त्रीपद से इस्तीफा देना पड़ा।

१९६४ तक के १२ वर्षों में इन लोगों ने कुछ शक्ति संचय कर ली और नई दिल्ली से एक साप्ताहिक और एक दैनिक पत्र चालू कर दिया। इन पत्रों के भवन-निर्माण के लिये किस प्रकार सरकारी संस्थानों द्वारा भाड़े के रूप में रुपया अग्रिम कर्ज दिया गया और किस प्रकार इनको इतना ज्यादा अखबारी कागजों का कोटा मिला, इन बातों को लेकर संसद में कई बार चर्चा हो चुकी है।

इन दोनों पत्रों के संचालकों में दो-तीन तो खुले तौर पर साम्यवादी विचारधारा के थे, परन्तु उन्होंने शायद भीतर रहकर कार्य करने में ज्यादा सुविधा समझी, इसलिये ये कांग्रेस के सदस्य बन गये।

इन दो पत्रों के सिवाय और भी छोटे बड़े कई साप्ताहिक पत्र बम्बई और दिल्ली से निकलते हैं, जिनका काम उन मंत्रियों और सदस्यों को—जो दक्षिण पंथी माने जाते हैं, गाली निकालना और उनके विरुद्ध गलत प्रचार करना है। यही नहीं कुछ देशों की हर प्रकार से कटु आलोचना करना भी उनका एकमात्र ध्येय है। इनमें से एक साप्ताहिक तो कोर्ट में मुकदमा करने पर माफी माँगने के लिये मशहूर हो चुका है।

स्वर्गीय शास्त्री जी यद्यपि बहुत थोड़े से समय ही प्रधान-मंत्री पद पर रहे, परन्तु उनके समय में इन लोगों ने अपनी गतिविधि को सीमित रखा, क्योंकि शास्त्रीजी ने इनको कभी भी बढ़ावा नहीं दिया। वे सुनते सबकी थे, परन्तु करते थे स्वयं सोच-विचार कर।

इनमें से एक दो तो शास्त्रीजी के नजदीक के मित्रों में रह चुके थे और उनको आशा थी कि शास्त्रीजी से भी वे मन चाहा काम प्रगति और समाजवाद के नाम पर करा सकेंगे। परन्तु वे इनकी बातें मुस्कराते हुए ध्यान से सुनते। स्वयं बहुत कम बोलते थे और उनके जवाब से यह भी पता नहीं चल पाता था कि उनका मत 'हाँ' में है या 'ना' में।

जब शास्त्रीजी को अपनी तरफ नहीं झुका सके तो इन्होंने कांग्रेस अध्यक्ष कामराज की खुशामद करनी शुरू की, क्योंकि इनकी धारणा थी कि कामराज का तथा उनके २-३ अन्य साथियों का शासन पर इतना बड़ा प्रभाव है कि उनकी राय के बिना किसी प्रकार का बड़ा कदम प्रधान-मंत्री या दूसरे मंत्री नहीं उठा सकेंगे।

परन्तु शास्त्रीजी ने १९६६ के बजट के केवल एक मास पहले श्री टी० टी० कृष्णमाचारी जैसे प्रभावशाली वित्तमंत्री को, यह जानते हुए भी कि उस पर श्री कामराज का वरद हस्त है, बिना किसी से सलाह लिये मंत्रिमण्डल से अलग कर दिया।

प्रधान-मन्त्री का पद संभालने के ६ मास के भीतर ही, उन्होंने अपनी स्थिति इतनी सुदृढ़ कर ली थी कि बिना किसी गुट विशेष के सहारे के उनका अपना कांग्रेस संसदीय दल में बहुमत हो गया था।

दुर्भाग्य से शास्त्रीजी का असमय में ही ताशकन्द में देहान्त हो गया।

१९६६ की जनवरी में जब श्रीमती इन्दिरा गांधी प्रधान-मन्त्री चुनी गयीं तो इन लोगों को आशा हुई कि अब इनके गुट को अपनी खोयी हुई प्रतिष्ठा वापस प्राप्त करने का मौका मिलेगा, क्योंकि इन्दिराजी, पंडितजी के साथ १७ वर्ष तक एक प्रकार से निजी सहायक की तरह रह चुकी थीं। और उनके बारे में लोगों में यह धारणा थी कि उनका झुकाव वामपंथी विचारधारा की तरफ है।

जब नये मंत्रिमण्डल का चुनाव हुआ और इनमें से किसी को भी उसमें शामिल नहीं किया गया तो इन्हें निराशा के साथ-साथ नाराजी भी हुई।

दुर्भाग्य से देश में दो वर्षों से लगातार अकाल पड़ रहा है। दूसरी तरफ प्रति वर्ष १ करोड़ जनसंख्या बढ़ती जा रही है। १९ वर्ष के लम्बे समय में भी हम अपनी खेती के उत्पादन के लिये सिंचाई और खाद की व्यवस्था भी नहीं कर पाये और हमें इस समय भी लगभग दो सौ करोड़ का आयात इन दोनों चीजोंका करना पड़ता है। यही नहीं हमें अपने सिक्के का भी अवमूल्यन इन्हीं सब कारणों से बाध्य होकर करना पड़ा है—चाहे उसका नतीजा आगे चलकर जैसा भी हो।

यद्यपि हमारी अधिकांश समाजवादी देशों से मित्रता है और वे हमें वाजिब तौर पर हर प्रकार की सहायता भी देते हैं। परन्तु उनकी अपनी कठिनाइयाँ भी हैं इसलिये इन्दिराजी ने बहुत सोच-विचार कर अमेरिका के साझे में एक बहुत बड़ा खाद का कारखाना बैठाना तय किया था। इस बात को लेकर साम्यवादियों ने तो विरोध किया ही—साथ-साथ वामपंथी कांग्रेसियों ने भी कम शोर नहीं किया और नतीजा यह हुआ कि एक बार फिर यह अत्यन्त जरूरी मसला खटाई में पड़ गया।

हमें, साम्यवादी पार्टी वालों की (चाहे वे रूसवादी हों या चीनवादी) देश के प्रति वफादारी है, इसमें सन्देह है, क्योंकि वे अन्तर्राष्ट्रीय तरीकों पर सोचते हैं और ऐसी धारणा है कि उन्हें आदेश और खर्च के लिए रुपया भी बाहर से ही मिलता है।

हमें ज्यादा अफसोस तो इन कांग्रेसी वामपंथियों की हरकतों पर है—जो संस्था के भीतर रहकर इसकी जड़ों को कमजोर कर रहे हैं। परन्तु, अब एक प्रकार से इनका असली रूप प्रकट हो गया है। श्री मेनन तो कांग्रेस छोड़कर बाहर चले गये और दो-दो बार अपने पुराने क्षेत्र उत्तर-बम्बई से हार गये। दूसरों में से भी अधिकांश सन् १९६७ के चुनावों में हार गये।

हमारे प्रधान-मन्त्री ने बहुत ठीक कहा है कि बढ़ती हुई कीमतों को रोकने के लिये हमें हर प्रकार से अपना उत्पादन बढ़ाना होगा, चाहे सरकारी क्षेत्र में हो या निजी क्षेत्र में।

सरकारी क्षेत्र की अपनी एक सीमा है। वे मध्यम और छोटे-छोटे कारखाने नहीं संभाल सकते, इसलिये इन सबको निजी क्षेत्र को ही देने होंगे। उनका उत्पादन जल्दी शुरू हो, इसके लिये दफ्तरों की देरी के लिये भी कुछ उपाय सोचना होगा।

भुवनेश्वर कांग्रेस के समाजवादी सिद्धान्तों का यह अर्थ तो कदापि नहीं था कि जनता आवश्यक वस्तुओं के लिये भी अभावग्रस्त रहे, क्योंकि उनके उत्पादन के लिये सरकारी कारखाने नहीं बैठ सकते। और अगर हमारे

प्रधान-मन्त्री ने इस दिशा में सही कदम उठाया है तो उसे हर प्रकार से सहयोग देना दूर रहा—उल्टा उनपर इल्जाम लगाया जाता है कि उनका झुकाव दक्षिण पंथ की तरफ हो रहा है।

हमारा लक्ष्य प्रजातान्त्रिक समाजवाद का है और हम उसके लिये हर प्रकार से प्रयत्नशील भी हैं। परन्तु इसकी आड़ में कतिपय व्यक्तियों द्वारा देश को अगर किसी गुट विशेष में ले जाने का प्रयत्न किया जायेगा तो हर समझदार और देशभक्त नागरिक उनका डट कर विरोध करेगा।

भारतीय साम्यवादी

कहते हैं हिटलर ने अपने शासनकाल में कई लाख यहूदियों की हत्या करा दी थी। स्टेलिन के बारे में भी इसी प्रकार की चर्चा है कि जो उसके विरोधी विचारों के थे उन सबको या तो साइबेरिया भेज दिया जहाँ वे ठण्ढ और भूख से मर गये या गोली से मार दिये गये।

ख्रु श्चेव के समय में हङ्गरी में जिस नृशंसता से साम्यवादी विरोधी विचारवालों को खत्म किया गया वह थोड़े वर्षों पहले की ही बात है।

चीन के बारे में यद्यपि सच्चे समाचार नहीं मिलते फिर भी जानकार लोगों और समाचार-पत्रों की मान्यता है कि वहाँ साम्यवादी शासन के बाद लाखों व्यक्ति मौत के घाट उतार दिये गये हैं।

पिछले वर्षों में पूर्वी पाकिस्तान से भी जिस प्रकार बड़ी संख्या में हिन्दुओं को भागकर आना पड़ा, वह छिपी हुई बात नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि साम्यवाद और डिक्टेटरशिप में विचार स्वातंत्र्य को स्थान नहीं है।

हमने स्वतन्त्रता मिलने के बाद अपने देश की मूलभूत नीति प्रजातंत्रीय समाजवाद की रखी और विभिन्न राजनैतिक दलों और समाचार-पत्रों को अपने विचार व्यक्त करने की पूरी स्वतन्त्रता दी परन्तु कतिपय लोगों ने और पत्रों ने इसका नाजायज फायदा उठाया और देशकी सार्वभौमिक सत्ता को मजबूत न बनाकर उल्टा कमजोर और विशृङ्खल करने में लगे रहे।

मैंने एकबार बम्बई के दो साप्ताहिक पत्रों के बारे में स्वर्गीय नेहरूजी का ध्यान आकर्षित किया जिनमें से एक तो उनके और दूसरा मुरारजी भाई के बारे में बहुत ही झूठा और शरारती प्रचार करते रहते थे।

सब बातें सुनकर उन्होंने मुस्करा कर कहा कि हम समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता के लिये ब्रिटिश सरकार से इतने वर्षों तक लड़ते रहे हैं। अब क्या स्वाधीन होने के बाद उन विचारों से दूर हट जायेंगे?

स्वर्गीय नेहरूजी के मन्त्रिमण्डल में कुछ ऐसे वामपंथी विचारों के व्यक्ति

रहे जिन्होंने हर प्रकार से कम्यूनिस्टों को बढ़ावा दिया। इनमें से एक मंत्री ने तो गोला-बारूद और हथियार बनाने वाले सरकारी कारखानों में साम्यवादी मजदूर दल को मान्यता दे दी जबकि वहाँपर बहुमत भारतीय राष्ट्रीय मजदूर पार्टी (इन्टुक) का था। इतना ही नहीं, उसने साम्यवादी देशों और भारतीय कम्यूनिस्टपार्टी को खुश करने के लिये प्रतिवर्ष अमेरिका जाकर वहाँ की सरकार को बिना वजह बुरा-भला कहने का एक प्रकार से नियम-सा बना लिया था।

भारतीय राजनीति में दिलचस्पी रखने वाले यह जानते हैं कि चीन की नीयत सन् १९५६ से ही खराब थी। वह लद्दाख की तरफ हमारी जमीन दबाता जा रहा था और साथ ही साथ सड़कें भी बनाता जा रहा था। उन सब महत्त्व की बातों के बारे में नेहरूजी को हमेशा अन्धेरे में रखा गया। क्योंकि इन सबको चीन की नेक नीति और मित्रता पर पूरा विश्वास था।

हमारे शस्त्रास्त्र बनाने वाले कारखानों की क्षमता कम नहीं थी, परन्तु उनमें गोलाबारूद और शस्त्र नहीं बनाकर काफी परक्यूलेटर और सिगरेट लाइटर बनाये गये।

सन् १९६२ के सितम्बर में जब चीनियों ने अचानक ही देश की उत्तरी सीमा पर बड़े पैमाने पर हमला किया और उसका जो नतीजा हुआ उसके बारे में समाचार-पत्रों में और संसद में काफी चर्चा हो चुकी है, इसलिये हम उसको यहाँ दोहराना नहीं चाहते। ताज्जुब तो इस बात का है कि उस राष्ट्रीय सङ्कट में भी कुछ साम्यवादी नेता चीन को कसूरवार नहीं बता रहे थे और उन्होंने बड़ी-बड़ी मीटिंगों में इस प्रकार के विचार भी प्रकट किये।

हमें विश्वास है कि दूसरे देशों में इस प्रकार के देश-द्रोहियों को कड़ा-से कड़ा दण्ड दिया जाता परन्तु हमने केवल भारत सुरक्षा कानून बनाकर इनमें से कुछ को उसके अन्तर्गत पकड़कर जेल भेज दिया और उन्हें प्रथम श्रेणी दी।

आश्चर्य तो यह है कि इन सबसे कहीं ज्यादा इस धारा के अन्तर्गत दूसरे लोगों को जेल भेजा गया जिससे एक प्रकार से उस धारा का महत्त्व ही खत्म हो गया।

कुछ महीनों पहले इन वामपंथी साम्यवादियों को भी बिना शर्त के छोड़ दिया गया और आज वे न केवल नागरिक शान्ति और सुरक्षा के लिये ही खतरा उत्पन्न कर रहे हैं, अपितु देश के लिये आवश्यक वस्तुएं बनाने वाले कारखानों में भी तोड़-फोड़ की साजिश कर रहे हैं।

इनके पास प्रचार, आये दिन के जुलूस, सभाए और चुनाव के लिये रुपया कहाँ से आता है ? यह किसी से छिपी हुई बात नहीं है। चार वर्ष पहले जब बैंक ऑफ चाइना के कागजों की जाँच हुई थी, तब इस बारे में बहुत से तथ्य वहाँ मिले थे, परन्तु उसके बाद क्या कार्रवाई की गयी इसकी कोई जानकारी नहीं है।

जिस पार्टी की वफादारी देश के प्रति नहीं होकर दूसरे देशों के प्रति है (जिनमें से कुछ देश तो हमारे दुश्मन हैं) और वे अपनी गतिविधियों के लिये भी उन देशों से ही आदेश लेते रहते हैं, ऐसी पार्टियों को सरकार द्वारा मान्यता देना, और उसके सदस्यों के कारनामों पर रोक-थाम नहीं लगाना, और वह भी इस सङ्कट के समय, जबकि हमारे अपने देश में ही नागा एवं मिजो हिंसात्मक कार्यवाही कर रहे हैं, और चारों तरफ से हम बाहर के दुश्मनों से घिरे हुए हैं, बहुत ही अवांछनीय है। इसबार के चुनावों में कांग्रेस की आपसी झगड़ों के कारण कई प्रान्तों में हार हुई। बंगाल और केरल में अन्य दलों के साथ साम्यवादियों ने मिलकर सरकार बनायी है। बंगाल भारत का प्रमुख औद्योगिक प्रान्त है, वहाँ जिस प्रकार से कारखानों पर मजदूरों द्वारा घेराव को खुले तौर पर प्रोत्साहन श्रम-मन्त्री द्वारा दिया जा रहा है, उसे साम्यवादियों का योजना-बद्ध तरीका कह सकते हैं।

देश सब वादों और मतों से बड़ा है। अगर इसकी अखण्डता पर किसी के द्वारा आँच आती है, तो वह चाहे कितना ही प्रभावशाली दल या व्यक्ति क्यों न हो, उसे सिर उठाने के पहले ही कुचल देना चाहिये। यही तो ऋषि चाणक्य का मत था, और यही भारत को सार्वभौमिक शक्ति दिलाने वाले सरदार पटेल का।

———

आज का विद्यार्थी और शिक्षा-पद्धति

दिल्ली से ट्रेन में कलकत्ते जा रहा था। डिब्बे में मेरे सिवाय एक नव-विवाहित दम्पति थे और चौथी सीट खाली थी। पत्नी के संकोच को देखकर ऐसा लगता था कि वह प्रथम बार ससुराल जा रही है।

अलीगढ़ स्टेशन पर गाड़ी ठहरी। डिब्बे के सामने बीस-पच्चीस युवक हाथों में हाकी स्टिक लिये हुए आकर खड़े हो गये और घूरने लगे। थोड़ी देर बाद गाड़ी चलने लगी तो देखता हूँ कि वे सब डिब्बे में घुस गये और आपस में भद्दा हँसी-मजाक करने लगे। युवती शर्मिन्दा होकर एक तरफ बैठ गयी, परन्तु उनको तो जान-बूझ कर बात बढ़ानी थी इसलिए उर्दू की अश्लील गजलें और कव्वाली गानी शुरू कर दी। युवक ने आपत्ति की तो झगड़ा करने पर उतारू हो गये, बेचारी लड़की रोने लग गयी।

मैं थोड़ी देर तो यह सब देखता रहा परन्तु जब उनकी हरकतें शालीनता की सीमा को पार करने लगीं तो उनसे बहस करना फिजूल समझकर गाड़ी की जंजीर खींच ली। गाड़ी रुकने पर गार्ड और टिकट निरीक्षक के अतिरिक्त और भी बहुत से यात्री वहाँ आकर इकट्ठे हो गये। सारी बातों को सुनकर सबने उन नौजवानों को बुरा-भला कहा, परन्तु उन्हें इससे किसी प्रकार की झिझक या शर्म महसूस नहीं हुई। खैर····उस समय बात वहीं समाप्त हो गयी और वे सब दूसरे डिब्बे में चले गये। हमारे पास टिकट निरीक्षक आकर बैठ गया और कहने लगा कि ये सब यहाँ के कालेजों के विद्यार्थी हैं। रविवार तथा अन्य छुट्टी के दिन इनके लिये ऐसी हरकतें साधारण-सी बात हो गयी है जहाँ कहीं भले घर की बहू-बेटी को देखते हैं कि आवाज कसने लगते हैं, मौका पाकर छेड़खानी भी कर लेते हैं। इनसे टिकट माँगने पर लड़ाई-झगड़ा करने पर उतारू हो जाते हैं और कभी-कभी मारपीट तक भी कर बैठते हैं। ये प्रायः दस-पन्द्रह की टोली में होते हैं और हम अकेले, इसलिये हमारे पास सिवाय उच्च-अधिकारियों को शिकायत करने के दूसरा चारा नहीं रह जाता।

मुझे कुछ दिनों पहले समाचार-पत्रों में पढ़ी हुई लखनऊ की एक घटना की याद आ गयी कि वहाँ के कालेजों के लड़कों ने स्कूल और कालेज जाती हुई लड़कियों को बहुत तंग करना शुरू कर दिया था और अन्त में उनमें से कई एक को पुलिस द्वारा गिरफ्तार करना पड़ा। आये दिन की तोड़-फोड़, हड़ताल, प्रोफेसरों से दिल्लगी और कभी-कभी धमकी देना आदि इनके लिये साधारण बातें हैं।

सोचने लगा, इनके माता-पिता दूसरे जरूरी खर्चों में कटौती करके इनको उच्च-शिक्षा के लिये कालेजों में भेजते हैं। उनके मन में आकांक्षा रहती है कि ये पढ़-लिख कर बंश का नाम उज्ज्वल करेंगे और हमें बुढ़ापे में कमाकर खिलायेंगे। उन्हें क्या पता कि उनके ये सपूत इस प्रकार से उनकी गाढ़ी कमाई का धन बर्बाद करते हैं और ६-७ वर्षों में डिग्री प्राप्त करने तक अनेक अवांछनीय बातों से भी जानकार हो जाते हैं। बी० ए० या एम० ए० करने के बाद घर की खेती-बारी या दूकानदारी के काम में इन्हें शर्म आने लगती है, इसलिए अखबारों में काम खाली 'वान्टेड' के कालम देखकर क्लर्की के लिये प्रार्थना पत्र देते रहते हैं। एक दिन मेरे एक जान-पहचान का मिस्त्री, बी० ए० पास पुत्र की नौकरी के लिये आया। वह स्वयं पढ़ा-लिखा नहीं है परन्तु हाथ का कारीगर है और प्रतिदिन छः सात रुपये कमा लेता है। बी० ए० पास करने के बाद लड़के को घर के धन्धे में शर्म आने लगी और सवा सौ डेढ़ सौ रुपये की नौकरी ढूंढ़ने लगा। बाप तो साधारण कपड़ों में था परन्तु पुत्र नायलन की बुशर्ट, मक्खन-जीन की पतलून और पालिश किये हुए चमचमाते जूते पहने हुए था। मुझे एक हिन्दी और अंग्रेजी के निजी सहायक की जरूरत थी। उसे जोन गुन्थर की 'इन्साइड एशिया' पढ़ने को दी तो एक-दो पृष्ठ उलटकर कहने लगा कि यह पुस्तक तो हमारे कोर्स में नहीं थी। एक छोटे से वाक्य का अनुवाद करने को दिया तो सात शब्दों में चार गलतियाँ। लिखने का तात्पर्य यह है कि हमारी आधुनिक शिक्षाका नैतिक और बौद्धिक स्तर निरन्तर गिरता जा रहा है।

यह तो हुई गाँवों और कस्बों के साधारण विद्यार्थियों की बात। कलकत्ते और बम्बई आदि बड़े शहरों के धनिकों के अधिकांश लड़कों की

शिक्षा-प्रणाली तो और भी विचित्र है। मुझे एक शिक्षा-शास्त्री एवं कई संस्थानों के संचालक ने बताया कि इनके लड़कों को पहुँचाने, लेने और नाश्ता देने के लिये बड़ी-बड़ी कारें स्कूलों और कालेजों में दिन भर आती रहती हैं। इनकी मैट्रिक तक की पढ़ाई और परीक्षा स्कूलों में ही होती है। इसलिये परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिये पहले से ही सारी व्यवस्था कर ली जाती है। कालेजों में जाने के बाद इनकी शान-शौकत और भी बढ़ जाती है।

बड़ी-बड़ी मोटरें, बीसों सूट, नये-नये दोस्त और कभी-कभी उनके साथ क्लबों में शराब और नाच भी। परीक्षा के समय से पहले जितने भी सम्भावित परीक्षक होते हैं उनको ट्यूशन पर रख लिया जाता है, यहाँ तक कि कुछ लड़कों को पढ़ाने के लिये हजार बारह सौ रुपये मासिक ट्यूशन फीस लग जाती है। खैर डिग्री तो कालेज में भी इन्हें किसी-न-किसी प्रकार प्राप्त हो जाती है, परन्तु वास्तविक ज्ञान की उपलब्धि तो शायद ही होती है।

हमारे पुराने ग्रन्थों में गुरुकुलों की चर्चाएँ हैं कि राजा और गरीब दोनों के लड़के आश्रम में रहकर एक साथ पढ़ते थे। बारी-बारी से सबको आश्रम का काम करना पड़ता था, इसमें भिक्षाटन भी शामिल था। इसके बहुत समय बाद के भी तक्षशिला और नालन्दा के विद्या मन्दिर भारत की शिक्षा-प्रणाली की महत्ता के जीते-जागते उदाहरण रहे हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और श्री गोपालकृष्ण गोखले की याद आती है कि उनके पास न तो पढ़ने को पुस्तकें ही थीं और न रोशनी के लिए तेल ही। इधर-उधर से पुस्तकें माँगकर ले आते और सड़क की रोशनी में पढ़ते रहते। इसके बावजूद वे प्रसिद्ध विद्वान् ही नहीं अपितु आदर्श पुरुष भी हुए। और याद आती है स्वामी दयानन्द सरस्वती की जो वेद, वेदांग और उपनिषद आदि की शिक्षा प्राप्त करके अपने गुरु बिरजानन्द जी से विदा लेने लगे तो गुरुदक्षिणा में थोड़े से लौंग ही दे पाये थे। उसी दक्षिणा से प्रसन्न होकर गुरु ने उनको हृदय से आशीर्वाद दिया था। वे भी पिछली शताब्दी के प्रकांड विद्वान् होने के साथ-साथ महान सुधारक भी हुए।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही भारतीय शिक्षा का रूप बदलने लगा। यहाँ तक कि हमारे इतिहास को भी स्मिथ और मर्सडन ने पूरे तौर पर बदल दिया। प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ और शिक्षा-शास्त्री मैकाले को इङ्गलैंड जाने पर भारत में प्रचलित की गयी शिक्षा के बारे में पूछा गया तो उसने कहा था कि जो काम भारत में हमारी बन्दूकें और तोपें नहीं कर सकी हैं वह काम हमारी चालू की गयी शिक्षा-प्रणाली पूरा कर देगी अर्थात् भारतियों का रंग तो काला ही रहेगा परन्तु मन से वे अंग्रेज बन जायेंगे।

आज एक सौ वर्ष बाद हम मैकाले की भविष्यवाणी की सत्यता महसूस कर रहे हैं। फर्क केवल इतना ही है कि आज से चालीस-पचास वर्ष पहले के कालेजों के विद्यार्थियों को अंग्रेजी भाषा का ठोस ज्ञान हो जाता था जबकि आज उन्हें न तो अंग्रेजी भाषा का ज्ञान हो पाता है और न मातृभाषा का ही।

डिग्री और ज्ञान अलग-अलग चीजें हैं। मेरे एक बुजुर्ग मित्र हैं जिन्होंने केवल अंग्रेजी में प्राइमरी रीडर ही पढ़ी थी परन्तु वे अब तक नियमित रूप से कुछ-न-कुछ पढ़ते रहते हैं। हिन्दी और अंग्रेजी के तो माने हुए विद्वान् हैं ही, संस्कृत और फ्रेञ्च भी जानते हैं।

राष्ट्रकवि मैथिली शरण गुप्त कभी स्कूल नहीं गये। परन्तु उनके काव्य-ग्रन्थों पर शोध करके कई व्यक्ति डाक्टरेट की उपाधि ले चुके हैं। एक बार हमें बंगला महाकाव्य वृत्रासुर-वध सुना रहे थे, उनके स्पष्ट छन्द ताल युक्त अजस्र बंगला कविता पाठ को सुनकर वहाँ बैठे हुए विद्वान् अचंभित और आत्मविभोर हो गये।

हम स्कूलों और कालेजों की ऊँची पढ़ाई के विरुद्ध नहीं हैं, क्योंकि आज फिर से गुरुकुल की पढ़ाई न तो व्यवहारिक ही होगी और न बांछित ही। परन्तु साथ ही यह भी कहना चाहेंगे कि इस समय की शिक्षा-प्रणाली में आमूल परिवर्तनों की आवश्यकता है। शिक्षा का अर्थ कुछ पुस्तकों का पढ़ लेना या डिग्रियाँ हासिल कर लेना ही नहीं है। शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य तो अच्छे नागरिक बनाना है। अक्षर ज्ञान या पुस्तकीय विद्या तो उसका एक साधारण-सा पक्ष है। नैतिक आधार और नैतिकता के बिना

कोई शिक्षा पूरी नहीं कही जा सकती। हमें युवकों को सुशिक्षित के साथ-साथ सुनागरिक बनाने पर भी ध्यान देना होगा। इसमें जनता और सरकार की जिम्मेदारी तो है ही परन्तु इसके लिये शिक्षकों का उत्तरदायित्व सबसे अधिक है।

खेद है कि आज के अधिकांश शिक्षक प्राइवेट ट्यूशनों पर ज्यादा ध्यान देते हैं और स्कूलों या कालेजों में बहुत कम पढ़ाते हैं। इनमें से कई-कई तो ६-७ ट्यूशन तक करते हैं। कालेज और स्कूल की अध्यापकी तो एक प्रकार से ट्यूशनों को प्राप्त करने के लिये रहती है। यही नहीं बड़े शहरों में तो शिक्षक ही धनी विद्यार्थियों को पास कराने की व्यवस्था भी कर देते हैं। अभी हाल ही में कलकत्ते की एक प्रसिद्ध शिक्षण संस्था में इसके लिये ग्यारह शिक्षकों को कार्य-मुक्त कर दिया गया था।

हमारा उद्देश्य यह सब लिखने का आज के युवकों की आलोचना करना मात्र नहीं है, वरन् उनका ध्यान इस ओर आकर्षित करना है कि वे एक महान देश के उत्तराधिकारी हैं इसलिये जैसे वे स्वयं और उनका आचार व्यवहार होगा वैसा ही देश का रूप भी बनेगा।



चरित्र-निर्माण में साहित्य का स्थान

किसी देश के निवासियों के सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन के निर्माण और विकास में साहित्य का बहुत बड़ा हाथ रहता है। साहित्य समाज का दर्पण या प्रतिबिम्ब-मात्र नहीं है, वह समाज के रूप-निर्धारण में भी सहायक का काम करता है। वह समाज की दिशा का द्योतक मात्र ही नहीं है—दिशा-निर्देशक भी है। जहाँ एक ओर साहित्य समाज की गति का चित्रण करता है वहाँ दूसरी ओर वह उस गति के क्रम का भी निर्धारण करता है। बाहर से देखने पर ऐसा लगता है कि जब समाज ऊँचा उठता है तो साहित्य का स्तर भी ऊँचा मालूम होता है और जब समाज पतन की ओर अभिमुख होता है तो साहित्य भी उसी प्रकार निम्नगामी नजर आता है, लेकिन हम ध्यान से देखें तो यह मालूम होगा कि साहित्य समाज की दशा का लक्षण मात्र नहीं है—उसका कारण भी है।

इतिहास में इसके अनेक उदाहरण पाये जाते हैं। रोम साम्राज्य कभी उन्नति के शिखर पर था। जिस साहित्य का उस युग में निर्माण हुआ, वह रोमन समाज को चित्रित करने के साथ प्रेरणा देने का काम भी करता था। लेकिन जब वहाँ के साहित्यकारों ने अपने साहित्य का रुख शुद्ध कलात्मकता को छोड़कर शासकों और सम्राटों की चाटुकारिता और इच्छापूर्ति की ओर मोड़ दिया तो उसके चलते सिर्फ साहित्य का ही नहीं देश का भी पतन हुआ। अपने शासकों की वासनापूर्ति के लिये जिस प्रकार के साहित्य का निर्माण उन्होंने किया, वह देश को ले डूबा।

दूसरा उदाहरण लुई १४वें के राज्यकाल में फ्रान्स का है। उस समय के प्रसिद्ध साहित्यकार भी उसकी प्रेमिकाओं के लिये उत्तेजक और अश्लील साहित्य की रचना में लगे रहे—जिसके चलते देश में विलासिता का एक ऐसा वातावरण बना, जिसके शिकार वहाँ के शासक ही नहीं, फ्रान्स का पूरा समाज हुआ।

अपने यहाँ भी उर्दू और ब्रजभाषा दोनों के साहित्य में एक ऐसा काल आया, जब रचनाएँ साहित्यिक दृष्टि से उत्कृष्ट होते हुए भी सामाजिक दृष्टि से वांछनीय नहीं थी। विलासिता का वह साहित्य शासकों तक ही सीमित न रहा—आम-जनता भी उससे प्रभावित हुई।

इसके अतिरिक्त संसार के विभिन्न देशों में इसके अनेकों उदाहरण पाये जाते हैं। हमारे यहाँ स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व वर्षों में सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' तथा माखनलाल चतुर्वेदी आदि कवियों ने जो साहित्य लिखा था, उसने आजादी की प्रबल इच्छा यहाँ के लोगों में पैदा की। आज हमारे लिये चिन्तनीय विषय यह है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद राष्ट्र के उत्थान में प्रेरणादायक साहित्य का जो रूप होना चाहिये, वह पर्याप्त मात्रा में नहीं हो पा रहा है। मस्ती और निराशा के अलावा उच्छृंखलता एवं विलासिता का भी जोर बढ़ा है, परिणाम यह हुआ कि आम-जनता की रुचि विकृत होती जा रही है। इस विकृति को किसी भी सिनेमागृह में जाकर प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। जिस तरह के दृश्यों पर तालियाँ पिटती हैं, कहकहे लगते हैं, आवाजें कसी जाती हैं, वह किसी भी सभ्य व्यक्ति का सिर झुका देने के लिये काफी है। आज इस प्रकार की कविताओं, कहानियों और उपन्यासों की भी कमी नहीं है। इससे केवल समाज का ही अहित नहीं हो रहा है—देश का भविष्य भी बिगड़ रहा है। आगे आने वाली पीढ़ी की रुचि, चरित्र और व्यवहार के भी कलुषित होने की सम्भावना है।

इसलिये इस दिशा में यदि शीघ्र प्रतिकार की चेष्टा नहीं की गयी तो देश के भविष्य को नहीं सुधारा जा सकेगा।

यद्यपि बिना सरकारी कड़े नियन्त्रण के इस प्रकार के गन्दे साहित्य के निर्माताओं को रोकना सम्भव नहीं है, फिर भी विभिन्न संस्थाओं और व्यक्तियों द्वारा इस दिशा में सतत् प्रयास अपेक्षित है।

———

रुपया कहाँ गया ?

तीन वर्ष पहले स्वीट्‌जरलैण्ड में एक बड़े बैंक के उपाध्यक्ष से मिला था। उन्होंने बताया कि वहाँ के बैंकों में रुपये जमा करने वाले को व्याज तो दिया ही नहीं जाता, परन्तु उनसे उल्टा कुछ रक्षा-शुल्क लिया जाता है। बात कुछ अटपटी-सी लगी—पर थी सही।

स्वीट्‌जरलैण्ड धनी देश है और इसके सिवाय विश्व के दूसरे देशों के बादशाहों, राजाओं और धनिकों की धनराशि बड़े पैमाने पर वहाँ के बैंकों में जमा रहती है। इतनी बड़ी पूंजी को वे उद्योग व्यापार में उधार नहीं दे पाते इसलिये वहाँ व्याज की दर बहुत कम है। विश्व में सबसे धनी देश अमेरिका और स्वीडन के उद्योगपति भी स्वीस बैंकों से रुपये उधार लेते हैं।

खैर, यह तो उन देशों की बात है जो बहुत धनी हैं और जहाँ समस्याएँ नहीं हैं। हमें तो अपनी वर्त्तमान पूंजी की कमी के बारे में सोचना है।

भूतपूर्व वित्तमंत्री श्री टी० टी० कृष्णमाचारी ने कई बार कहा था कि एक हजार करोड़ रुपये छिपे धन के रूप में लोगों के पास हैं। कुछ वामपंथी नेताओं और पत्रों ने तो इस राशि को दो से तीन हजार करोड़ तक बता दिया।

इस धन को बाहर लाने के लिये १९६५ के ८ महीने में वित्त-मन्त्रालय ने तीन बार विभिन्न प्रकार की स्वेच्छा प्रकट योजना लोगों के समक्ष रखी और इस विभाग के सर्वोच्च अधिकारी स्वयं कलकत्ता और बम्बई जाकर लोगों से मिले और कहा कि स्वेच्छा से बतायी हुई राशि के बारे में सहानुभूतिपूर्वक विचार किया जायगा। इनके सिवाय समाचारपत्रों में भी विज्ञापन दिये गये। साथ ही आयकर और कस्टम विभाग द्वारा देश के विभिन्न भागों में बड़े पैमाने पर छापे भी हुए।

इन सब प्रयत्नों के बावजूद कुल ६० करोड़ से ज्यादा छिपा धन बाहर नहीं आया, इसलिये ऐसा मालूम देता है कि एक हजार से तीन हजार करोड़ की बातें कुछ व्यक्तियों और पत्रों के फैलाये हुए भ्रमपूर्ण प्रचार हैं और

शायद इसके पीछे एक खास तबके के लोगों को बदनाम करने की भावना है।

आज हालत यह है कि १२ से १५ प्रतिशत व्याज पर भी पूंजी नहीं मिलती और जिसको छिपा धन कहते हैं वह भी ८-९ प्रतिशत से कम व्याज पर नहीं मिलता जब कि दो वर्ष पहले इनके व्याज की दर क्रमशः ९ और ६ प्रतिशत थी।

उद्योग-धन्धे भी तृतीय पञ्चवर्षीय योजना के अनुरूप नहीं बन पाये हैं और जो बन रहे हैं उनमें भी बहुत से पूंजी के अभाव में अधूरे पड़े हैं। उनको पूरा करने के लिये नयी रकम उधार मिलनी तो दूर रही पुरानी उधार पूंजी के लिये भी तकादे होने शुरू हो गये हैं।

अगर हजार-दो हजार करोड़ की बात छोड़ भी दें तब भी यह सोचना जरूरी हो जाता है कि आखिर जो रुपया बाजार में पहले था—वह गया कहाँ ?

नीचे इसके लिये हम अपने अनुमान देते हैं परन्तु अच्छा होगा यदि देश के अर्थ-शास्त्री इस विषय में प्रकाश डालें, क्योंकि यह एक अत्यन्त विचारणीय समस्या हो गयी है :—

(१) दैनिक बढ़ते हुए वस्तुओं के मूल्यों के कारण सरकारी क्षेत्र में जो कारखाने बने, उनमें धारणा से ज्यादा रुपये लगे और नफा हुआ नहीं इसलिये बैंकों और बीमा कम्पनियों को ज्यादा अनुपात में सरकारी ऋण-पत्र बाध्य होकर खरीदने पड़े।

(२) निजी कारखानों के बनाने में भी खर्च धारणा से ज्यादा हुआ और जो लाभ हुआ, उसका अधिकांश विभिन्न करों में चला गया और यदि हानि हुई तो उसकी पूर्त्ति के लिये कर्ज लेकर व्यवस्था करनी पड़ी।

(३) मजदूर के कानून इस प्रकार के बना दिये गये कि काम के घण्टे और काम कम करने के बावजूद उन्हें प्रतिदिन बढ़ती हुई महँगाई का भत्ता और बोनस देना जरूरी हो गया—चाहे कारखाने कमायें या खोयें।

(४) दैनिक रहन-सहन का स्तर और विवाह-शादी के खर्च इन वर्षों में बहुत बढ़ गये और बहुत-सा रुपया कारोबार से निकलकर गहने, कपड़े, फर्नीचर आदि अनुत्पादक मदों में फँस गया।

(५) विभिन्न प्रकार के कर देने और दैनिक खर्च के बाद यदि कुछ बच गया तो वह एन्यूटी डिपोजिट में जाने लगा।

(६) आये दिन के छापों से लोगों में भय उत्पन्न हो गया और अगर कुछ छिपा धन था तो वह और भी छिपा हो गया।

इसमें दो मत नहीं है कि आज हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता देश की सुरक्षा की है और इसके लिये प्रत्येक देशवासी बड़े-से-बड़े बलिदान के लिये तैयार हैं। आनेवाले वर्षों में हमें फौजी ताकत बढ़ाने के लिये बहुत ज्यादा खर्च करना होगा। साथ ही पी० एल० ४८० की सहायता पर भरोसा नहीं करके अधिक अन्न उत्पादन के लिये खाद और सिंचाई की बड़े पैमाने पर व्यवस्था करनी होगी। परन्तु इसके साथ-साथ यह भी इतना ही जरूरी है कि धनाभाव के कारण हमारी दैनिक जरूरत की वस्तुओं के उत्पादक कारखाने ठप्प न हो जायँ।

इसलिये कुछ दलों और व्यक्तियों के, चाहे वे कितने ही प्रभावशाली हों, भ्रामक प्रचार और नारों से प्रभावित न होकर सरकार को वस्तु-स्थिति समझकर सही दिशा में कदम उठाना चाहिये और लोगों को वर्तमान सरकार से इसका पूरा भरोसा है।

रुपये का अवमूल्यन

१९६५ में जब नेशनल डिफेन्स रेमिटेन्स स्कीम चालू की गयी थी, उसी समय से ही एक तरह से रुपये का मूल्य घट गया था, क्योंकि कोई भी व्यक्ति विदेश से वहाँ की मुद्रा लाकर ६० प्रतिशत आयात के लाइसेन्स लेने का हकदार हो जाता था। जिसका बाजार भाव २०० प्रतिशत के लगभग था। यह स्कीम चालू होने के पहले पौण्ड का भाव २१), २२) रु० था जो पीछे बढ़कर ३०), ३१) रु० तक हो गया।

इसी तरह स्वर्ण-बाण्ड के १० ग्राम के ९०), ९५) रु० के भावों पर स्टेट बैंक द्वारा उधार दिया जाना भी सिक्के का अवमूल्यन मंजूर करना था, क्योंकि विश्व बाजार में सोने के अधिकृत भाव ६०) रुपये प्रति १० ग्राम था।

१९४७ में विदेशों में हमारे १३०० करोड़ रुपये पावने थे, जो इस समय घटकर केवल ७० करोड़ रह गये हैं।

यह रकम निम्नतर निर्धारित राशि से भी कम है। इसके सिवाय ३४०० करोड़ रुपये हमारे पर दूसरे देशों का कर्ज है।

खाद्यान्न, खाद और मशीनों का आयात प्रतिवर्ष बढ़ता जा रहा है और १९६५ में तो वह १३५० करोड़ तक पहुँच गया—जो पहले के वर्षों में सबसे अधिक था।

हर प्रकार के प्रयत्नों के बावजूद हमारा निर्यात ८१० करोड़ से ज्यादा नहीं हो पाया, जिसमें पाट की बनी हुई वस्तुएँ, चाय और कपड़ा मुख्य रूप से हैं।

बोरे-हैसियन में तो पाकिस्तान का हमारे से कड़ा मुकाबला रहा और चाय में लंका और अफ्रीका के देशों से। इन देशों में उत्पादन खर्च हमारे देश से कम है, इसलिये ये अपनी वस्तुएँ कुछ सस्ती बेचते रहे हैं।

कपड़े में हमारे मुख्य प्रतिद्वन्दी जापान, रूस और चीन हैं।

जहाँतक जापान का सवाल है। उसके कारखाने आधुनिक मशीनों से

सुसज्जित हैं और वहाँ के मजदूर यहाँ की बनिस्वत कहीं अधिक काम करते हैं। रूस और चीन के कारखाने सरकारी हैं इसलिये उनके लिये पड़ता लगाना खास जरूरी नहीं है। हम १९६४ में जब बर्मा में थे—तो देखा कि चीनी कपड़ा भारत से २० प्रतिशत नीचे में बिक रहा है। इसके पीछे स्पष्ट रूप से राजनैतिक कारण था कि वे बर्मा के बाजारों को हमसे छीन लें।

इन सब बातों को जानते हुए भी—हमारे अर्थ-शास्त्रियों की ऐसी धारणा थी कि यद्यपि हमारे सिक्के की साख घटती जा रही है—फिर भी अधिकृत रूप से अवमूल्यन करना देश-हित में नहीं होगा क्योंकि हमारा आयात, निर्यात से ५५० करोड़ ज्यादा है और विदेशी कर्ज भी बड़ी मात्रा में हमें भुगतान करना है।

इस विषय पर पिछले महीने संसद में प्रश्न भी पूछे गये, परन्तु वित्त-मन्त्री और योजना-मन्त्री ने स्पष्ट रूप से अवमूल्यन की चर्चा को निराधार बताया।

अब ६ जून '६६ को अचानक इतना बड़ा अवमूल्यन हमारे रुपये का हुआ, इसके पीछे कौन-सा दवाब या प्रेरणा थी—इसके बारे में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। परन्तु संसद का सत्र समाप्त हुए २० दिन भी नहीं हुए, फिर इतना शीघ्र इतना बड़ा कदम उठाना बिना किसी खास कारण के सम्भव नहीं मालूम होता।

प्रेस कान्फ्रेन्स में वित्तमन्त्री श्री चौधरी ने कहा है कि हमने किसी के दबाव में आकर अवमूल्यन नहीं किया है, बल्कि अपनी इच्छा से ही ऐसा किया है। यद्यपि हमारे पास कोई कारण नहीं है कि उनकी बात को गलत समझें—पर जो कुछ दलीलें उन्होंने इसके पक्ष में दी हैं वे किसी प्रकार भी न्यायसंगत नहीं जँचती।

हमें विचारना यह है कि इतने बड़े अवमूल्यन से हमारी लाभ-हानि क्या होगी ?

(१) इस समय हमारा ८०० करोड़ का निर्यात है, उसमें कुछ वृद्धि अवश्य होगी। क्योंकि हमारी वस्तुएँ, निर्यात-कर बढ़ाने के बाद भी दूसरे देशों से सस्ती मिलेंगी। खासकर अगर पाकिस्तान और लंका अवमूल्यन

नहीं करते हैं तो पाट से बनी चीजें और चाय के निर्यात को हम जरूर बढ़ा पायेंगे। परन्तु हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि हमारी चाय का सबसे बड़ा खरीदार ब्रिटेन है—जो हमसे ज्यादा लंका और पाकिस्तान का मित्र है। उसके समाचार-पत्रों ने तो अभी से ही प्रचार करना शुरू कर दिया है कि भारत के अवमूल्यन से यूरोप के देशों में उनके माल की खपत ज्यादा होगी—यह जरूरी नहीं है। क्योंकि एक तो वहाँ निर्यात-कर बढ़ा दिये गये हैं—दूसरे हमें किस देश से कितना माल खरीदना है—यह केवल थोड़े-बहुत मूल्य की कमी-बेसी पर ही निर्भर नहीं करता, क्योंकि पहले से ही भिन्न-भिन्न देशों से आयात के कोटा हैं। हम जानते हैं—यह शरारतभरी विज्ञप्ति है, परन्तु हमारे आर्थिक संकट के समय सहानुभूति की जगह कटुक्ति तो है ही। हमें इस प्रकार के द्वेषपूर्ण प्रचार से तो डरने की कोई आवश्यकता नहीं—पर साथ ही अपनी वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि करके निर्यात को अगर अच्छे पैमाने पर नहीं बढ़ा सकेंगे तो फिर अवमूल्यन का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता।

(२) हमारे देश पर इस समय करीब ३४०० करोड़ रुपया विदेशी कर्ज है। अवमूल्यन करने के बाद उसके भुगतान में हमें १९०० करोड़ रुपये ज्यादा देने होंगे।

(३) निजी या सरकारी क्षेत्र में हमारे लोहे, खाद या अन्य वस्तुओं के कारखाने बनाने की योजना है। उनमें आयात की चीजों पर ५६ प्रतिशत लागत बढ़ जायगी—अकेले बोकारो इस्पात के कारखाने का खर्च ही १२५-१५० करोड़ ज्यादा हो जायेगा।

(४) हमारी चतुर्थ पञ्चवर्षीय योजना २१५०० करोड़ की बनी थी, परन्तु स्वर्गीय शास्त्रीजी, कांग्रेस अध्यक्ष कामराज तथा अन्य अर्थ-शास्त्रियों की राय थी कि इसको कम किया जाय। परन्तु अब अवमूल्यन के बाद उसकी राशि उल्टी ३००० करोड़ बढ़ जाती है—इसलिये किस मद में इतनी बड़ी कटौती की जायेगी और उससे दूसरे सम्बन्धित उद्योगों में क्या असर पड़ेगा—इसपर वित्तमन्त्री या योजना-मन्त्री ने अभीतक कोई प्रकाश नहीं डाला है।

(५) वित्त-मन्त्रालय के एक प्रमुख प्रवक्ता ने कहा है कि आवश्यक उद्योगों के लिये जरूरी कच्चे माल का आयात उदारता से किया जायगा—परन्तु यह समझ में नहीं आता कि १३५० करोड़ के वर्तमान आयात (जिसकी कीमत अब २२०० करोड़ हो जायगी) में किन वस्तुओं में बड़ी कटौती होगी—जिससे कि दूसरी वस्तुओं का आयात ज्यादा हो सके।

(६) वित्तमन्त्री ने अपने वक्तव्य में कहा है कि अब अवमूल्यन के बाद चोरी-छिपे जो वस्तुएँ आती हैं उनमें कमी हो जायेगी। उनका यह तर्क युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि तस्कर व्यापारियों को पहले भी १३।) में पौंड मिलता नहीं था। वे तो अनधिकृत दरों में पौंड खरीदकर विदेशी वस्तुएँ लाते थे—इसलिये अवमूल्यन से खास फर्क तस्कर व्यापार में नहीं पड़ेगा।

इन सब बातों के बावजूद अगर अवमूल्यन से हमारे कारखानों का उत्पादन बढ़ता है और वस्तुओं के दाम तेज नहीं होते हैं—साथ ही हमारे सिक्के का भाव भी विदेशों में स्थिर रहता है तो हम इस साहसिक और कठिन कदम का स्वागत करेंगे। परन्तु अगर हम उपभोक्ता वस्तुओं के अत्यन्त बढ़े हुए दामों की तेजी को नहीं रोक सकेंगे या हमारा खाद्यान्न, खाद तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं का अभाव इसी प्रकार बना रहा तो निश्चित रूप से इसका बुरा असर १९६७ के शुरू में होनेवाले आम-चुनावों पर पड़े बिना नहीं रहेगा।

———

रुपये का वर्त्तमान मूल्य

पाठकों को लेख का शीर्षक कुछ अटपटा-सा लगेगा। वे कहेंगे कि भला रुपये का मूल्य कम या अधिक क्या हो सकता है? पहले चौंसठ पैसे थे, अब एक सौ नये पैसे हो गये हैं। परन्तु जिस रुपये में केवल आधा सेर दाल, चावल अथवा गेहूँ, आठ तोला घी, एक पाव तेल और तीन छटांक दालदा आता है—वह रुपया पूरा नहीं है।

सिक्के का मूल्य मुख्यतया दो बातों से आँका जाता है :—

(१) विदेशों में अधिकृत दरों से कम है या ज्यादा।

(२) उसकी अपने देश में क्रय-शक्ति कितनी है।

८ जून, १९६६ के पहले हमारे सिक्के की अधिकृत दर १३·३५ प्रति पौण्ड थी परन्तु बाजारों में भाव ३०), ३१) रु० तक था। इसके बाद अव-मूल्यन हुआ और अधिकृत दर २१) प्रति पौण्ड हो गयी जबकि बाजारों में भाव आज भी वही ३०), ३१) रु० है अर्थात् अवमूल्यन के बाद भी तीन चौथाई से कम है।

हमारी बढ़ती हुई जनसंख्या, अकाल और अनावृष्टि के कारण हमें विदेशों से अन्न, खाद और खाद्य-तेलों का बड़े पैमाने पर आयात करना पड़ता है। दूसरी तरफ हम जापान, फ्रान्स और जर्मनी आदि उन्नत देशों के मुकाबले में निर्यात बढ़ा नहीं सकते, क्योंकि वे विश्व बाजारों में हमसे अच्छा और सस्ता सामान बेचते हैं। इसलिये हमारा वैदेशिक व्यापार कई वर्षों से घाटे में चल रहा है। यही खास कारण है कि हमारे सिक्के का मूल्य अवमूल्यन के बाद भी अधिकृत दरों से नीचा है। युद्ध के बाद ब्रिटेन में वहाँ के नागरिकों ने महीने में प्रति व्यक्ति आधा पाव चीनी और चार तोला मक्खन से काम चलाकर निर्यात किया था। जबतक हम भी उसी प्रकार से कष्ट सहकर निर्यात-आयात को बराबर नहीं लायेंगे तो शायद ही हमारे सिक्के की कीमत बढ़े।

१९४७ में हमारे १२०० करोड़ रुपये विदेशों में जमा थे, जबकि आज हम पर ५००० करोड़ का कर्ज है। यही कारण है कि इन १९ वर्षों में विश्व के बाजारों में हमारे रुपये की कीमत घट गयी है।

अर्थ-शास्त्र का सिद्धान्त है कि अगर समय रहते बिगड़ती हुई अर्थ-व्यवस्था को न सम्भाला जाय, चाहे निजी क्षेत्र में हो या सरकारी क्षेत्र में—तो एक समय ऐसा आ जाता है कि वह फिर कभी भी नहीं संभल पाती, जिसके उदाहरण युद्धोत्तर जर्मनी के मार्क और जापान के येन हैं। परन्तु इन दोनों देशों ने ही अपनी योजनाएं इस प्रकार से बनायी और उनको सफल करने में जुट गये कि आज फिर से वे विश्व के सम्पन्न और उन्नत देशों में है।

यद्यपि योजनाएं तो हमने भी बहुत बड़ी-बड़ी बनायी थी और चतुर्थ पञ्चवर्षीय योजना तो २१५००) करोड़ की थी जिसको अब शायद उपलब्धियाँ नहीं होने के कारण घटाकर १८००० करोड़ की कर रहे हैं। परन्तु पूर्ति के अपने निजी साधनों पर ध्यान न देकर बहुत अंशों में विदेशी ऋण और सहायता पर निर्भर रहे। टर्की, पाकिस्तान जैसे देशों के लिये तो यह बात वाजिब थी, क्योंकि वे पश्चिमी गुट में थे। परन्तु हमारा देश तटस्थ नीति वाला है, इसलिये दूसरों की सहायता पर निर्भर रहकर इतनी बड़ी-बड़ी योजना बना लेना खतरे से खाली नहीं है। अब हम अपने देश में रुपये की क्रय-शक्ति के बारे में विचार करते हैं।

१९३० में दैनिक मजदूरी छै आने थी, परन्तु उस समय चावल या गेहूँ—३) मन, चना—२,७५ पैसे मन, घी—सवा सेर, तेल तीन सेर और दूध पन्द्रह सेर का था।

आज मजदूरी २)५०, ३) प्रतिदिन है, परन्तु सत्तर से एक सौ रुपये प्रति मन तक चावल, दाल या गेहूँ; १४) रु० प्रति सेर घी, १)५० सेर दूध और ५) सेर तेल है। इसलिये वस्तुओं की क्रय-शक्ति के अनुपात में हमारे रुपये की कीमत ४० प्रतिशत ही रह गयी है।

१४वीं शताब्दी में अलाउद्दीन खिलजी ने दैनिक उपभोग्य पदार्थों के मूल्य निर्धारित किये थे। उनमें से कुछ का विवरण इस प्रकार है :—

गेहूँ—ढाई आने; चावल, दाल—डेढ़ आने, तिल—दो आने प्रति मन। उस समय सिक्कों का प्रचलन पैसे या कौड़ियों में होता था। मजदूरी आधे से एक पैसा प्रतिदिन थी। उस एक पैसे में ही ५-६ सेर अनाज खरीदा जा

सकता था, जिसके लिये आज आठ-दस रुपये चाहिये।

१७वीं शताब्दी में अकबरनामा में जो भाव मिलते हैं, वे खिलजी-काल से तेज हो गये थे फिर भी लोग सुखी थे, क्योंकि मजदूरी भी दुगुनी यानी दो-तीन पैसे रोज हो गयी थी। उस समय के भाव इस प्रकार हैं :—

गेहूँ—पाँच आने ; चना, जौ—तीन आने, तीसी—चार आने, चावल—छै आने, घी—दो रुपये बारह आने, तेल—दो रुपये, दूध—दस आने, मांस—डेढ़ रुपये और अंगूर—ढाई रुपये प्रति मन थे। बादाम, पिस्ता, चिलगोजा और मुनक्का तीन आने से चार आने सेर थे। अन्य चीजों को देखते हुए चीनी महँगी थी दस आने सेर।

बकरी और भेड़ का मूल्य बारह आने से एक रुपया था। घोड़ों की प्रतिदिन की खुराक सवा पैसा लिखी है। हाथियों के महावत को ३) से ५) रु० प्रतिमाह मिलते थे, जिसमें हाथी की खुराक भी शामिल थी।

सन् १७१५ की बहियाँ मेरे मित्र पुरोहित स्वरूपनारायण जी सीकर के यहाँ हैं। वे अमीर खाँ पिंडारी को रसद देते थे। उनके यहाँ भी कई प्रकार के भाव उस समय के मिलते हैं। जैसे ; घी—एक रुपये का साढ़े चार सेर, तेल—दस सेर और गेहूँ—बारह आने मन। बीस गज रंगीन कपड़े के दाम १रु० २ आने। १२ घोड़ों की खुराक २६) रु० मासिक और नौकरों को डेढ़-दो रुपये माहवार के अतिरिक्त खाना भी मिलता था।

इसके बाद सन् १७८२ के भाव एक अंग्रेजी पुस्तक में जो रायकृष्णदासजी, कला भवन, वाराणसी में है; देखने को मिले—जो इस प्रकार हैं :—

चावल—दस आने से बारह आने, गेहूँ—बारह आने, जौ—पाँच आने, अरहर—सात आने, खेसारी—चार आने, चना—सात आने, मूँग—दस आने, सरसों—तेरह आने, तिल—दस आने और नमक—साढ़े पाँच आने मन था। अफीम का भाव रु० २)७५ पैसे प्रति सेर का था।

इस पुस्तक से यह भी पता चलता है कि उस समय के अंग्रेजों के यहाँ १५-२० नौकर रहते थे। जैसे—हुक्काबरदार, खानसामा, फर्रास, मेहतर, पंखा खींचने वाला, माली, धोबी, पालकी ढोनेवाले और आया आदि। इन सबका मासिक वेतन तीन से पाँच रुपये तक था।

सन् १८३५-४० के लगभग की कुछ बहियाँ तेजपुर आसाम में श्री माहसिंघ मेघराज के यहाँ देखने को मिलीं, उनमें जो भाव मिले वे भी लगभग १७८२ के समान ही हैं। उनका आसाम में उस समय सबसे बड़ा व्यापार था। उनके बड़े मुनीम का मासिक वेतन २५), ३०) रु० था।

लगभग एक सौ वर्ष पहले की एक बही श्री रामकुमार गोयनका के यहाँ देखने में आयी, जिसमें फतेहपुर में हुए एक मध्यम घराने में लड़की के विवाह के खर्च का विवरण है। भिन्न-भिन्न खर्चों की और दहेज की अलग-अलग तालिका व्यौरेवार दी गयी है। सारे विवाह का खर्च २२३) रु० हुआ—जिसमें बरातियों की बिदाई और दहेज आदि सब शामिल था।

२० वीं शताब्दी के प्रारम्भ में देश में बड़ा अकाल पड़ा, जिसे लोग छप्पन का अकाल कहते हैं। उस समय भी अनाज के भाव दो आने सेर थे। आज भी ऐसे लोग हैं, जिन्हें उस समय की बातें याद हैं।

१९२८-३० में खुर्जा के अच्छे घी का भाव चौदह आने से एक रुपये सेर का था और चीनी का तीन आने सेर। उस समय तक दालदा के बारे में तो लोग जानते ही नहीं थे।

यद्यपि चीजों के भाव दूसरे देशों में भी बढ़े हैं। परन्तु प्रति व्यक्ति की औसत आय के अनुपात में हमारे यहाँ से बहुत कम हैं।

अमेरिका में औसत आय १५०००) वार्षिक है, जबकि हमारे यहाँ ३५०) रु०। दैनिक जरूरत की चीजों के दाम वहाँ हमारे समान ही हैं। दूसरे यूरोपीय देश और जापान वगैरह भी हमारे यहाँ से तो बहुत अच्छे हैं।

साम्यवादी चीन की तो हमें जानकारी नहीं है, परन्तु कुछ समय पहले तक विश्व में केवल पूर्वी पाकिस्तान ही क्रय-शक्ति और आय के अनुपात में हमारे से गरीब था। पिछले वर्ष सिक्के का अवमूल्यन करके सरकार ने एक कठिन किन्तु आवश्यक मार्ग अपनाया था। परन्तु इससे आवश्यक वस्तुओं की कीमतों को रोकने में सफल नहीं हुए और आयात-निर्यात की खाई और भी बढ़ गयी। अब शायद हमें विदेशी कर्ज और सहायता पर पहले से भी अधिक निर्भर रहना होगा।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना : एक दृष्टिपात

सन् १९६५, पाँच सितम्बर को राष्ट्रीय विकास परिषद की बैठक में चतुर्थ पञ्चवर्षीय योजना की राशि इक्कीस हजार पाँच सौ करोड़ रु० की निर्धारित की गयी। उस समय देश के बहुत से अर्थशास्त्रियों को इसकी सफलता में सन्देह था। यहाँ तक कि कांग्रेस-अध्यक्ष श्री कामराज और प्रधान-मन्त्री स्वर्गीय श्री शास्त्री को भी इतनी बड़ी योजना पार पड़ती कठिन लगती थी।

योजना के अन्तर्गत विभिन्न मदों में विदेशों से कई प्रकार के सामान आयात करने पड़ते हैं। अतः अवमूल्यन के बाद इस पर फिर विचार करना आवश्यक हो गया और २९ अगस्त, १९६६ को योजना आयोग ने पहले की राशि बढ़ाकर तेईस हजार सात सौ पचास करोड़ कर दी। सरकारी क्षेत्रों के कारखानों में धारणा से बहुत कम उत्पादन और नफा हुआ। चीजों के दाम पिछले वर्ष में और भी बढ़ गये। हमारा निर्यात भी घट गया इसलिये अब योजना की राशि घटाकर १८००० करोड़ करने की बात है।

तीसरी योजना की असफलता

इसमें दो राय नहीं है कि तीसरी योजना में हमें सफलता नहीं मिली। योजना के अन्तिम वर्ष ६५-६६ में हमारी औसत आय प्रति व्यक्ति ३८५ रु० मानी गयी थी जो केवल तीन सौ पच्चीस रु० ही रही। राष्ट्रीय आय भी १९,००० करोड़ के स्थान पर १५ हजार नौ सौ तीस करोड़ रही। सबसे ज्यादा असफलता खाद्यान्न के उत्पादन में रही। ६०-६१ में ८·२ करोड़ टन अन्न उत्पादन हुआ था जो ६५-६६ में ७·२ करोड़ टन हुआ। जब कि इन पाँच वर्षों में उपभोक्ताओं की संख्या पाँच करोड़ बढ़ गयी। सरकार द्वारा सूखा एवं बाढ़ आदि विपत्तियों को इसके लिये उत्तरदायी ठहराया गया है परन्तु प्रत्येक अर्थशास्त्री और विशेषज्ञ यह मान कर चलता है कि इन सब

बातों को मद्देनजर रखते हुए योजनाएं बनायी जाती हैं। क्योंकि यह सब विपत्तियाँ तो आती ही रहती हैं।

तिलहन का लक्ष्य एक करोड़ टन का था जो ६५-६६ में केवल इकसठ लाख टन ही हुआ। यही हालत खाद की रही क्योंकि उसका उत्पादन भी १२ लाख टन की जगह ६ लाख टन हुआ।

असफलता का दूसरा मुख्य कारण यह रहा कि हमारे सरकारी कारखानों का उत्पादन निर्धारित क्षमता से बहुत कम रहा। जबकि चीजें महँगी होने के कारण खर्च ज्यादा लगा। इसलिये इनमें जो २५०० करोड़ रुपये लगे हुए थे उनसे व्याज और मुनाफा तो आया नहीं; अपितु मूल रकम में भी छीजत हो गयी। विदेशों से खाद्यान्नों के सिवाय मशीनें तथा अन्य प्रकार के सामान बड़े पैमाने पर आयात करने पड़े और हमारी निर्यात-आयात की खाई बढ़कर चार सौ पचास करोड़ की जगह छह-सौ करोड़ हो गयी।

यद्यपि कृषि जनित वस्तुएँ और आर्थिक साधनों में हम सफल नहीं हो सके पर दूसरे कई लाभ जनता को पिछली तीन योजनाओं से मिले हैं। उनका उल्लेख निम्नलिखित हैं।

(१) औसत आयु बत्तीस वर्ष से बढ़ पचास वर्ष हो गयी। इससे पता लगता है कि स्वास्थ्य सेवाएँ अधिक सुलभ हुई।

(२) पहले ३७ सौ गाँवों और कस्बों में बिजली थी जो अब ६०००० गाँवों में है।

(३) सात लाख नये कुएं खोदे गये या नल-कूप बैठाये गये। और सत्रह हजार गाँवों में जल प्रदाय योजना चालू की गयी।

(४) दो करोड़ पैंतीस लाख बच्चे स्कूल जाते थे जिनकी संख्या ७ करोड़ हो गयी।

(५) अस्पतालों और हेल्थ सेन्टरों की संख्या नौ हजार है। इसके अलावा सोलह हजार परिवार-नियोजन केन्द्र भी हैं।

(६) साइकिलें एक लाख बनती थी जो अब सत्रह लाख बनती हैं।

(७) कागज का उत्पादन एक लाख सोलह हजार टन था जो अब छै लाख टन है।

(८) सीमेंट का उत्पादन २७ लाख टन था जो इस समय एक करोड़ दस लाख टन है।

ऊपर जो आँकड़े दिये गये हैं, वह खास-खास वस्तुओं के हैं। इसके सिवाय बहुत से कारखानों की क्षमता बढ़ी है और कई नये बैठाये गये हैं। परन्तु इन १६ वर्षों में जनसंख्या बहुत तेजी से बढ़ी और लोगों के रहन-सहन का स्तर भी बढ़ा। तीसरी योजना में सरकारी क्षेत्र में जो ७५ सौ करोड़ रुपया कूता गया था वह चीजों के दाम महँगे होने के कारण ८६८० करोड़ रुपया हो गया। परन्तु उपलब्धियाँ योजना के अनुसार नहीं मिलीं।

जब तीसरी योजना में कर-वृद्धि के बावजूद ११३० करोड़ के घाटे की व्यवस्था करनी पड़ी तो फिर चौथी योजना जो तीसरी से बहुत बड़ी है वह किस प्रकार से सफल होगी यह विचारणीय है।

अन्न की समस्या

मनुष्य के लिये सबसे आवश्यक अन्न है। चौथी योजना के अन्तिम वर्ष में हमने अपना लक्ष्य बारह करोड़ टन का रखा है जबकि ६५-६६ का उत्पादन केवल ७.२ करोड़ का था। पाँच वर्ष में इतनी बड़ी वृद्धि के लिये जो साधन चाहिये वे जुट पायेंगे इसमें सन्देह है। इसके लिये बड़े पैमाने पर भूमि की तैयारी के सिवाय सिंचाई की सुव्यवस्था, सस्ते दामों में खाद और बीज किसानों को दिया जाना और आसान किश्तों में छोटे-बड़े ट्रैक्टरों का मिलना आवश्यक है। अगर इनमें से किसी भी मद में कमी आ जाती है तो किसी हालत में भी हम बारह करोड़ तो क्या दस करोड़ टन का उत्पादन भी नहीं कर सकेंगे और हमें पिछले वर्षों की तरह विदेशों की सहायता पर निर्भर रहना पड़ेगा जो किसी भी स्वाभिमानी और स्वतन्त्र देश के लिये शोभनीय नहीं है। इन दिनों में तो अमेरिका ने एक प्रकार से हमें चेतावनी भी दे दी है कि अगर हम अपना उत्पादन नहीं बढ़ा पायेंगे तो उन्हें सहायता के बारे में फिर से सोचना होगा।

योजना निर्माताओं ने यह स्वीकार किया है कि चतुर्थ योजना-को तभी

सफलता मिलेगी जब वित्तीय साधन पूर्णतः उपलब्ध होंगे। निर्यात रूप-रेखा के अनुरूप आठ हजार करोड़ का होगा। मूल्यों में ज्यादा वृद्धि नहीं होगी और घाटे की वित्तीय व्यवस्था से भी यथासम्भव बचा जायगा। आज तक भी सरकार के ध्यान में पूरी तरह यह बात नहीं आ पायी है कि बड़े-बड़े लोहे और मशीनों के कारखानों से ज्यादा जरूरी सिंचाई, भूमि सुधार और खाद्य उत्पादन को बढ़ाना है। बहुत ही खेद की बात है कि कई प्रान्तीय सरकारों ने तो पिछले वर्षों में किसानों से गन्ने के कर के रूप में प्राप्त रुपये खेत के सुधार के लिये न लगाकर अन्य मदों में खर्च कर दिये।

वित्तीय साधन पूरे तौर पर उपलब्ध होंगे इसमें सन्देह है। जिस प्रकार से विश्व राजनीति बदलती जा रही है उस हालत में हमारा विदेशी सहायता और ऋण पर निर्भर रहना बहुत ही खतरनाक साबित हो सकता है। जहाँ तक अपनी उपलब्धियों का प्रश्न है उसमें भी सफलता प्राप्त होना सन्देहास्पद है।

सबसे अधिक करोंवाला देश

इस समय भी भारत विश्व में सबसे ज्यादा करोंवाला देश है और चौथी योजना के लिये अठारह सौ करोड़ के नये कर चार वर्षों में किन मदों से आयेंगे इसके बारे में कोई प्रकाश नहीं डाला गया है। राज्य सरकारों के जिम्मे बत्तीस सौ करोड़ रु० दिये गये थे। उसकी पूर्ति में उन्हें सन्देह था। अब सात सौ करोड़ और बढ़ा दिये गये हैं और ग्यारह सौ करोड़ केन्द्रीय सरकार के लिये रखे गये हैं। जहाँ तक राज्य सरकारों का प्रश्न है अधिकांश की आर्थिक स्थिति पहले से ही खराब है। पुराने कर्ज चुकाने के पूर्व ही उन्हें नये कर्ज लेने पड़ते हैं।

नये कर और निजी क्षेत्र

अगर इसी प्रकार अठारह सौ करोड़ के नये कर लगा भी दिये गये तो निजी क्षेत्र में नये उद्योग बैठाने का प्रश्न ही नहीं रह जायगा। क्योंकि

पिछले वर्ष में जो लाइसेंस लोगों ने लिये थे, वे सब ठप्प पड़े हैं और शेयरों के भाव घटते जा रहे हैं।

इसलिये ऐसा लगता है कि निजी क्षेत्र के लिये जो राशि रखी गयी है उसमें बड़ी कमी आ जायगी। निर्यात गत वर्ष आठ सौ करोड़ का हुआ था, जो अवमूल्यन के बाद १२५० करोड़ का होना चाहिये। किन्तु हुआ है पहले से भी कम।

अन्न को छोड़कर रुई और पाट मुख्य कृषिजन्य वस्तुएँ हैं जिनका इस समय का उत्पादन सैंतालिस और बासठ लाख गाँठों के लगभग है। उनका लक्ष्य क्रमशः ८६ लाख और ९० लाख गाँठों का रखा गया है। खेती की अन्य वस्तुओं की तरह ही इनका उत्पादन भी समय पर की वर्षा पर निर्भर है, अतः इनका उत्पादन लक्ष्य अस्सी और पचास प्रतिशत कैसे बढ़ जायगा ? इस पर योजना में खास प्रकाश नहीं डाला गया है। इसी प्रकार तिलहन आमजनता के लिये चिकनाई का मुख्य साधन है जिसका उत्पादन इस समय ६७ लाख टन है। उसको १०७ लाख टन रखा गया है।

यद्यपि सरकारी खर्च को कम करने के लिये बार-बार कहा जाता है पर दुर्भाग्य तो यह है कि मन्त्रियों और अफसरों के खर्चे घटने के स्थान पर प्रतिवर्ष बढ़ते ही जाते हैं और नये-नये विभाग भी प्रतिवर्ष खोल लिये जाते हैं।

लक्ष्यों की दृष्टि से अच्छी होते हुए भी योजना व्यावहारिक होनी चाहिये। इसलिये हम समझते हैं कि १८००० करोड़ की योजना भी तभी सफल होगी जबकि वित्तमंत्री और योजना-मंत्री हर वर्ष की उपलब्धियों पर पूरे तौरपर सम्हाल रखेंगे।

भारतीय उद्योगों की बढ़ोत्तरी क्यों रुक गयी ?

पिछले दो वर्षों से देश में नये उद्योगों की गति बहुत धीमी हो गयी। ५-७ वर्ष पहले जहाँ लाइसेन्स लेने वालों की एक लम्बी कतार रहती थी वहाँ अब सरकार द्वारा कई उद्योगों को बिना लाइसेन्स के बैठाने का ऐलान करने के बावजूद, किसी की हिम्मत नये कारखाने लगाने की नहीं रह गयी है।

वैसे तो सब प्रकार के उद्योगों में ही नफा कमती होता जा रहा है, परन्तु खास करके—कपड़े की मिलें, जूट की मिलें और इञ्जीनियरिंग कारखानों को तो बहुत ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है।

पिछले जून में जब से हमारे सिक्के का अवमूल्यन हुआ है, हमारी पटसन की चीजों का, कपड़े का और चाय का निर्यात बहुत घट गया है।

आज विश्व के दूसरे प्रगतिशील देशों में अपने औद्योगिक उत्पादन को बढ़ाकर ज्यादा निर्यात करने की होड़ लगी हुई है। परन्तु खेद है कि हमारी जनसंख्या और चीजों की मँहगाई के अतिरिक्त किसी तरफ भी बढ़ोत्तरी नहीं हो पा रही है।

वैसे बहुत से कारण इसके पीछे हैं, परन्तु जो खास समस्याएँ हैं उन पर हमें विचार करना है—अगर सरकार इसके लिए शीघ्र उचित कदम नहीं उठायेगी तो जो चालू कारखाने हैं उनमें से भी बहुत से बन्द हो जायेंगे—जिससे मजदूरों की बेकारी के अतिरिक्त और बहुत-सी समस्याएँ खड़ी हो जायँगी।

(१) कुछ वर्षों पहले तक मजदूरी कम होने के कारण हमारा उत्पादन खर्चा दूसरे देशों से कम था परन्तु इन वर्षों में मजदूरी तो बहुत बढ़ गयी और मजदूरों के कानून इस प्रकार के बन गये कि उनके काम पर नियन्त्रण नहीं रहा।

(२) आये दिन की हड़तालें, कम काम करना और घेराव के कारण उत्पादन क्षमता घट गयी।

(३) पूंजी पर व्याज बहुत ऊँचा हो गया और इस पर भी उद्योगों को

या व्यापारियों को अच्छे शेयरों या बाजार में बिकने वाली चीजों पर भी उधार नहीं मिलता, इसलिए उन्हें अपने उत्पादन को घटाकर किसी प्रकार कारखानों को चालू रखना पड़ता है।

(४) यद्यपि पिछले वर्ष से जरूरी कच्चे माल के आयात पर कुछ ढिलाई हुई है, परन्तु इस समय भी आयात परिपत्र मिलने में सरकारी दफ्तरों में बहुत विलम्ब और खर्चा होता है।

(५) इन वर्षों में सरकारी और सहकारी क्षेत्र में कई प्रकार के कारखाने बैठ गये हैं, जहाँ न तो पूंजी की कमी है और न नफे की ही गुञ्जाइश रहती है। इसलिए निजी क्षेत्र के कारखाने उनके मुकाबले में नहीं पनपते।

(६) कारखानों के संचालकों का निजी खर्चा बहुत ज्यादा हो जाता है। यद्यपि सरकार ने पिछले वर्ष से इस पर कुछ नियंत्रण किया है, परन्तु अभी भी इसे घटाने की गुञ्जाइश है।

(७) आये दिनों के मजदूरों के झगड़े और बढ़े हुए टैक्सों के कारण विदेशी हिस्सेदार और पूंजी लगाने वाले डरते हैं।

(८) सबसे बड़ी बाधा है—कम्पनियों पर इनकमटैक्स तथा अन्य प्रकार के टैक्सों की, जिसके कारण उनकी अपनी पूँजी नहीं बढ़ पाती और अगर २-३ वर्ष लगातार घाटा हो जाता है तो फिर पहले का रिजर्व या कैपीटल भी खत्म हो जाता है।

द्वितीय महायुद्ध के पहले कम्पनियों से बहुत ही कम टैक्स की आय थी। १९४७ में भारत स्वतन्त्र हुआ। छोटे-बड़े उद्योगपतियों में देश में नये-नये कारखाने बैठाने का उत्साह हुआ। विश्व के दूसरे देशों के अधिकांश कारखाने नष्ट हो गये थे, चीजों की माँग थी और कोरिया का युद्ध शुरू हो गया था इसलिए भारत के उद्योगों में अच्छा मुनाफा हुआ—उत्पादन भी बढ़ा, कुछ टैक्स की दर भी बढ़ा दी गयी। इसलिए प्रथम योजना के अन्तिम वर्ष में कम्पनियों से ४० करोड़ की आय हुई। प्रथम योजना १९५६ के मार्च में समाप्त हुई—इस समय तक भी हम ब्रिटेन के पावनेदार थे। हमारे सिक्के की विदेशों में साख थी। वित्त-मन्त्री श्री देशमुख ने नये उद्योगों को विकास की छूट दे दी थी, इसलिए द्रुतगति से अनेक प्रकार के

कारखाने बैठने लगे और १९६१ के मार्च में जब द्वितीय योजना समाप्त हुई तब कम्पनियों से टैक्स की १११ करोड़ की आय थी।

इसके बाद योजनाएँ बड़ी बनती गयीं, किन्तु उपलब्धियाँ धारणा के अनुसार नहीं हुई। चीजों के दाम बढ़ते गये। चीन और पाकिस्तान से तनाव के कारण सुरक्षा का खर्च भी बहुत बढ़ गया। बढ़ते हुए खर्चों की पूर्ति के लिए सरकार ने हर प्रकार के नये-नये टैक्स लगाये और पुरानों को बढ़ाया—इसलिए तृतीय योजना के अन्तिम वर्ष अर्थात् १९६५-६६ में कम्पनियों से इनकमटैक्स प्राप्त हुआ ३३० करोड़।

इस पर भी वित्त-मन्त्री को सन्तोष नहीं हुआ और ६६-६७ के बजट में बोनस टैक्स की थोड़ी-सी आय को हटाकर दूसरे प्रकार के टैक्स बढ़ा दिये और कारखानों का मुनाफा और उत्पादन कम होने के बावजूद पिछले वर्ष के आयकर का अनुमान है ३७५ करोड़। ११ वर्षों में ४० करोड़ से बढ़कर ३७५ करोड़ रुपये कम्पनियों पर आयकर के लगा दिये गये, जो अपने-आप में एक बेजोड़ उदाहरण है।

इस समय छोटी-बड़ी सब कम्पनियों पर ५५ प्रतिशत टैक्स तो है ही—इसके सिवाय पूँजी के अनुपात से जो ज्यादा मुनाफा होता है उस पर ४० प्रतिशत और है। यही नहीं अगर हिस्सेदारों को १० प्रतिशत से ज्यादा लाभांश मिलता है तो साढ़े सात प्रतिशत टैक्स है और चौथा टैक्स है—लाभांश पर बाइस प्रतिशत अर्थात्—कुल मिलाकर ७० से ७५ प्रतिशत कर कम्पनियों पर लग जाते हैं। इनके सिवाय उत्पादन शुल्क और बिक्री कर अलग से हैं।

टैक्स की यह दर विश्व में सब देशों से ज्यादा है। दूसरे अविकसित देश जैसे—आयरलैण्ड, नाइजीरिया, अबिसीनिया आदि नये कारखानों को बहुत प्रकार की राहत के सिवाय प्रचुर उधार पूँजी की सुविधा भी देते हैं। यहाँ तक कि जापान, अमेरिका और पश्चिम जर्मनी जैसे चोटी के औद्योगिक देशों ने भी पिछले २ वर्षों में अपने यहाँ टैक्स की दरें घटायी हैं।

हमारे प्रधान-मन्त्री और वित्त-मन्त्री दोनों ने ही देश का उत्पादन बढ़ाने पर जोर दिया है और यह तभी संभव होगा जब सरकार उदार मनोवृत्ति अपना कर टैक्सों में राहत देगी और वाजिब व्याज पर पूँजी की सुविधा करेगी।

बीमा कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण

लोक लेखा समिति ने सरकारी कारखानों की व्यवस्था, उत्पादन और नफे के बारे में जो प्रकाश डाला है, वह बहुत ही निराशाजनक है।

तीन हजार करोड़ रुपये इन सब कारखानों में जनता की गाढ़ी कमाई के लगे हुए हैं। आज कई वर्षों से इतनी बड़ी रकम पर कुछ भी लाभ नहीं होता, जबकि बाजार में व्याज की दर १२ से १५ प्रतिशत है।

राँची का हैवी इञ्जीनियरिङ्ग, भोपाल का हैवी इलेक्ट्रिकल, सिन्दरी का फर्टिलाइजर और नेशनल कोल माइन्स तो बहुत ही घाटे में और बिना सम्हाल के चल रहे हैं।

हिन्दुस्तान स्टील, जिसमें भिलाई, राउरकेला और दुर्गापुर के कारखाने हैं, अब आकर थोड़ा-सा नफा दिखाने लगे हैं जबकि लोहे के दाम बढ़ा दिये गये हैं और कन्ट्रोल उठा दिया गया है फिर भी अभी तक पहले के घाटे और घिसाई की रकम की पूर्ति नहीं हुई है।

स्टेट ट्रेडिंग कारपोरेशन में जरूर बहुत बड़ा मुनाफा है परन्तु वहाँ आयात की वस्तुओं का एकाधिपत्य है। अगर तांबा, जस्ता, सुपारी, लौंग और बादाम के आयात का कोटा मिले तो मनचाही कमाई हो सकती है। इसमें बुद्धिमानी, जानकारी और मेहनत की दरकार नहीं रहती।

वामपंथी दलों के सदस्य कई वर्षों से बैंकों और बीमा कम्पनियों के राष्ट्रीयकरण की माँग कर रहे थे और अब भुवनेश्वर कांग्रेस के बाद तो वामपंथी कांग्रेसी भी इन प्रस्तावों का समर्थन कर रहे हैं।

जहाँ तक बैंकों का सवाल है—वह एक प्रकार से राष्ट्रीयकरण के समान ही है क्योंकि आज निजी बैंक रिजर्व बैंक के आदेश के बिना न तो किसी को मनचाहे तरीके पर रुपया उधार दे सकते हैं, न नयी शाखा ही खोल सकते हैं। अफसरों को रखने या छोड़ने के लिये भी रिजर्व बैंक को पूछना पड़ता है।

जीवन बीमा कम्पनियों का १९५६ में राष्ट्रीयकरण हुआ। यद्यपि इन वर्षों में प्रीमियम की आय बढ़ी है परन्तु इसका कारण है लोगों के रहन-सहन के स्तर का कुछ ऊँचा होना। पहले आय का छठा हिस्सा और अधिकतम ६००० प्रीमियम आयकर से मुक्त था, उसको बढ़ाकर अब चौथा हिस्सा और १५००० कर दिया गया है, इसलिये ज्यादा आय वाले बड़ी रकम की पॉलिसी लेने लगे। जहाँतक जीवन बीमा निगम के अफसरों और कर्मचारियों की सेवा और कार्य तत्परता का सवाल है, वह बहुत ही निराशाजनक है—न केवल ग्राहकों को, बल्कि एजेण्टों को भी इनके व्यवहार से सन्तोष नहीं है। परन्तु एकाधिकरण है इसलिये शिकायत किसको करें और फिर सुनता भी कौन है।

साधारण बीमा व्यवसाय के राष्ट्रीयकरण करने के बारे में सरकार आजतक बराबर यह जवाब देती रही कि उनके पास पहले के दूसरे बहुत से ज्यादा जरूरी काम हैं और साधारण बीमा की भी दो कम्पनियाँ सरकारी क्षेत्र में हैं। इसके अलावा पिछले वर्ष से जीवन बीमा निगम भी इस क्षेत्र में आ गया है। परन्तु पिछले दिनों कांग्रेस कार्यकारिणी में इस आशय का प्रस्ताव पास हो गया है कि बीमा-व्यापार का राष्ट्रीय-करण कर लिया जाय। इसलिये ऐसा लगता है कि अब शायद इस तरफ सरकार को कदम उठाना पड़ेगा।

देश के सामने आज अनेक बड़ी-बड़ी गंभीर समस्याएँ हैं। औद्योगिक उत्पादन और निर्यात घटते जा रहे हैं। सब प्रकार के अन्न, चीनी और तेलों के दाम बढ़ रहे हैं। खाद के कारखाने बैठ नहीं पाये और जो हैं, वे ठीक से नहीं चल रहे हैं। चारों तरफ अभाव नजर आ रहा है फिर उन सब जरूरी मसलों की तरफ ध्यान न देकर इस छोटे से धन्धे को, जिसमें छोटे-बड़े १३६ प्रतिष्ठान काम कर रहे हैं, राष्ट्रीयकरण करके सिवाय वाम-पंथियों की सहानुभूति प्राप्त करने के और कुछ उपलब्धि होगी इसमें सन्देह है।

१९६६ में प्रीमियम की कुल आय ७५ करोड़ रुपये हुई, जिसमें १५ करोड़ की सरकारी क्षेत्र के कारखानों की है, जो इस समय भी सरकारी

बीमा कम्पनियों को ही मिलती है। बचे हुए ६० करोड़ रुपये ७२ भारतीय और ६४ विदेशी कम्पनियों को मिले, जिसमें क्लेम, एजेन्सी, कमीशन और स्टाफ आदि का खर्चा बाद देकर शुद्ध आय हुई लगभग साढ़े तीन करोड़ रुपये। इसमें तीस करोड़ रुपया कम्पनियों की चुकता पूंजी और सुरक्षित कोष के व्याज की आमदनी भी शामिल हैं। बीमा व्यवसाय का राष्ट्रीय-करण करने के पहले निम्न बातों पर सरकार को ध्यान देना जरूरी है।

(१) आज किसी प्रकार छँटनी तो सम्भव नहीं, फिर इन १३६ कम्पनियों के वर्त्तमान स्टाफ को राष्ट्रीयकरण करने के बाद काम देने की समस्या सामने आयेगी।

(२) विदेशों के ७०० करोड़ रुपये इस समय हमारे यहाँ के उद्योगों में लगे हुए हैं और आये दिन हम उन्हें और पूंजी लगाने के लिये कहते हैं फिर इस तरह के साधारण से धन्धे का राष्ट्रीयकरण करके हम उन्हें नये उद्योग करने के लिये हतोत्साह करेंगे इसमें कोई सन्देह नहीं है।

(३) कांग्रेस तथा अन्य वामपंथी दल एकाधिकरण का बराबर विरोध करते आ रहे हैं।

हम उसके पक्ष-विपक्ष में कुछ नहीं कहकर यही पूछना चाहते हैं कि क्या इस प्रकार से एकाधिकरण को, जिसके लिये जाँच कमीशन बैठाये जाते हैं—बीच-बीच में संसद में या पत्रों में विज्ञप्ति दी जाती है। इस प्रकार सरकार क्या स्वयं इसे प्रोत्साहन नहीं देती है ?

(४) बीमा की पॉलिसी में कई प्रकारके पेचीदा कानून रहते हैं, अगर कम्पनी वाले क्लेम नहीं चुकाना चाहते हैं तो हर प्रकार से बच सकते हैं। इसलिये व्यापारी या उद्योगपति अपने विश्वास की कम्पनी में बीमा कराते हैं। परन्तु राष्ट्रीयकरण के बाद उन्हें एक ही जगह बीमा कराना होगा और क्लेम की अदायगी के लिये सरकारी अफसरों की खुशामद या अन्य प्रकार से उनको खुश करना पड़ेगा।

(५) आज बीमा व्यवसाय एक अन्तर्देशीय स्तर पर है, इसलिये विभिन्न प्रकार की बीमा की दरें, बहुत ही सोच-विचार कर तय की जाती हैं परन्तु एकाधिकरण हो जाने पर अन्य सरकारी कारखानों की तरह अगर

इसमें भी घाटा होने लगा तो बीमा की दरें बढ़ती चली जायेगी, जिससे उत्पादन खर्च और भी बढ़ जायेगा।

हमें उप-प्रधान मन्त्री श्री मोरारजी भाई से, जिनके पास वित्त-विभाग है, यह निवेदन करना है कि बिना इस बात पर ध्यान दिये कि कौन पक्ष-विपक्ष में है, बीमा राष्ट्रीयकरण के प्रश्न के बारे में फिर से विचार करें और अगर उचित समझें तो कांग्रेस कार्य-कारिणी को इसके लिये पुनर्विचार करने को कहें।

बैंकों का राष्ट्रीयकरण : एक विवेचन

बैंकों के राष्ट्रीयकरण की चर्चा इन दिनों काफी जोर-शोर से चल रही है। साम्यवादी और समाजवादी दल तो एक अर्से से इसकी माँग कर ही रहे थे, अब कांग्रेस की कार्यकारिणी ने भी इस आशय का प्रस्ताव किया है। उनका कहना है कि समाजवादी ढंग की अर्थ-व्यवस्था के लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिये बैंकों का राष्ट्रीयकरण जरूरी है।

इस सिलसिले में विचारणीय प्रश्न है—समाजवाद के लक्ष्य को देखते हुए देश की बुनियादी जरूरत को क्या गैर-सरकारी बैंक पूरी नहीं कर रहे हैं ? क्या राष्ट्रीयकरण करके वह पूरी की जा सकती है ? और, क्या रिजर्व बैंक की शक्तियाँ इतनी व्यापक नहीं हैं कि गैर-सरकारी बैंकों को नियन्त्रण में रख सकें ?

बैंकों का सबसे पहला काम समाज में बचत की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना है। लोग अपनी आय या मुनाफे में से बचत करके उसे बैंकों में जमा करते हैं। बचत की उस राशि को बैंक नये उत्पादक उद्योगों के लिये सुलभ बनाते हैं। नये उद्योगों से राष्ट्रीय आय, मुनाफे और बचत की राशि और भी बढ़ जाती है। इस प्रकार, क्रम से अधिक नयी पूंजी उपलब्ध होती जाती है और देश में मुद्रा का आकार और क्षेत्र बढ़ता जाता है।

सन् १९५१-५२ से १९६५-६६ तक के पिछले पन्द्रह वर्षों में हमारे देश में विभिन्न बैंकों के खातों में जमा होने वाली राशि ८२२ करोड़ से बढ़कर २९५० करोड़ रुपये हो गयी, अर्थात् उसमें २६१ प्रतिशत वृद्धि हुई।

राष्ट्रीयकरण की माँग करने वालों की दलीलें कुछ इस प्रकार हैं :—

१—सरकारी बैंकों को जनता का अधिक विश्वास प्राप्त होगा, क्योंकि कई छोटे-छोटे बैंक दिवालिये हो जाते हैं और खातेदारों की रकम मारी जाती है।

२—बड़े-बड़े गैर-सरकारी बैंकों पर चन्द बड़े उद्योगपतियों का प्रभुत्व है,

और उनसे बड़े लोगों को ही सहूलियतें मिलती हैं, साधारण लोगों और छोटे उद्योगों को नहीं।

३—इन बैंकों से छिपाये हुए धन को प्रोत्साहन मिलता है।

४—कुछ बैंक ऐसे भी हैं, जिन्होंने हिस्सेदारों को लाभांश के रूप में आज तक एक कौड़ी भी नहीं दी, हलांकि उनको स्थापित हुए बीस-बीस या पच्चीस-पच्चीस वर्ष तक हो चुके हैं।

५—गैर-सरकारी बैंक लाभ की दृष्टि से नयी शाखाएँ खोलते हैं, स्थानीय जनता की आवश्यकताओं के ख्याल से नहीं।

६—राष्ट्रीयकरण हो जाने से बैंकों की कार्य-कुशलता बढ़ जायगी।

७—राष्ट्रीयकरण से गैर-सरकारी बैंकों को मिलने वाला मुनाफा सरकार को मिलेगा, जो कृषि तथा विकास परियोजनाओं में लगाया जा सकेगा।

अब इन दलीलों पर अलग-अलग विचार करना चाहिये। देखना यह है कि ये वस्तु-स्थिति से कितना मेल खाती हैं।

पहली दलील है जनता के विश्वास की। हमारे देश में सरकारी और गैर-सरकारी दोनों ही प्रकार के बैंक मौजूद हैं। लोग जिस भी बैंक में चाहें, अपना खाता खोल सकते हैं। इसलिये जनता के विश्वास की कसौटी यही है कि लोग किन बैंकों में अधिक रुपया जमा देते हैं।

सन् १९५५ से मार्च १९६६ तक सरकार के स्टेट बैंकों में जमा की गयी राशि २०५ करोड़ से ७४६ करोड़ रुपये हुई, अर्थात् उसमें ५४१ करोड़ की वृद्धि हुई। दूसरी ओर इसी अवधि में गैर-सरकारी अनुसूचित बैंकों की जमा राशि ८२३ करोड़ से २२०४ करोड़ रुपये हो गयी, अर्थात् उसमें १३८१ करोड़ की वृद्धि हुई। यदि १९५५-५६ से १९६५-६६ तक का हिसाब लगाया जाय तो अनुसूचित बैंकों के विभिन्न खातों में जमा की जाने वाली राशि में १६८ प्रतिशत वृद्धि हुई थी। यहाँ यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि अनुसूचित बैंकों की अपनी चुकता पूंजी केवल ७६.३६ करोड़ रुपये ही है। इतनी थोड़ी पूँजी से २२०४ करोड़ रुपये की राशि सामाजिक बचत के रूप में प्राप्त करना कोई साधारण बात नहीं है। उनकी इस सफलता का मुख्य कारण है—देश की जनता का उन पर विश्वास। यह बात और

भी स्पष्ट हो जाती है जब हम देखते हैं कि अनुसूचित बैंकों के डिपाजिट खातों की संख्या जो १९५१ में ३२ लाख थी, वही १९६५ में बढ़कर १०२ लाख हो गयी। इससे सिद्ध है कि अनुसूचित बैंकों पर भी जनता का पर्याप्त विश्वास है।

यह सही है कि १९६१ के पहले कुछ छोटे-छोटे बैंकों के फेल हो जाने से निजी बैंकों पर जनता के विश्वास को एक धक्का लगा था। परन्तु अखिल भारतीय पैमाने पर काम करने वाले बड़े-बड़े अनुसूचित बैंकों ने परिस्थिति संभाल ली और बैंकों पर से जनता का विश्वास उठने नहीं दिया।

इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि १९६२ से डिपाजिट बीमा निगम अधिनियम लागू हो गया है। इसके अन्तर्गत १५०० रुपये तक के खातों का बीमा हो जाता है। इसलिये अब ऐसी सम्भावना नहीं के बराबर रह गयी है। वैसे रिजर्व बैंक भी इस दिशा में पूरी सतर्कता रखता है।

दूसरी दलील गैर-सरकारी बैंकों पर चन्द बड़े उद्योगपतियों के प्रभुत्व की है। उनका कहना है कि अनुसूचित बैंकों से चन्द बड़े-बड़े उद्योगपति मनमानी रकमें उधार ले लेते हैं और मामूली दर्जे के उद्योगपति या व्यवसायी उनसे लाभ नहीं उठा पाते। इसकी छानबीन करने के लिये हमें वास्तविक आँकड़ों को देखना चाहिये।

इस दलील में तथ्य अवश्य है कि छोटे व्यापारियों तथा उद्योगपतियों को इन बैंकों से पर्याप्त सुविधाएँ नहीं मिल पातीं। इसलिये यदि उधार देने में अनुचित पक्षपात हो, तो उसकी रोकथाम होनी ही चाहिये और रिजर्व बैंक के पास ऐसे नियन्त्रण के लिये पर्याप्त शक्तियाँ मौजूद हैं। इस दिशा में स्टेट बैंक और उनके सहायक बैंक जिनकी लगभग १९०० शाखाएँ सारे देश में हैं, उन्हें सबसे पहले कदम उठाना चाहिये।

तीसरी दलील पेश की जाती है कि गैर-सरकारी बैंक छिपे धन को प्रोत्साहन देते हैं।

रिजर्व बैंक की ओर से सभी बैंकों पर यह प्रतिबन्ध लगा हुआ है कि यदि वे किसी खातेदार को ब्याज के रूप में ४०० रुपये से अधिक दें तो उनको उस खातेदार का नाम भेजना पड़ता है। रिजर्व बैंक में उनके नाम

पहुँचने पर इसकी छानबीन की जा सकती है। इसलिये इस मद में कोई बहुत बड़ी रकम छिपाने की गुञ्जाइश नहीं है।

चौथी दलील है; बीस-बीस, पच्चीस-पच्चीस वर्ष पुराने कुछ ऐसे बैंक भी हैं जिन्होंने अपने शेयर-हल्डरों को लाभांश के नाम पर आज तक एक कौड़ी भी नहीं दी और न वे उचित मुनाफा ही दिखा पाते हैं। रिजर्व बैंक को जाँच करके देखना चाहिये कि अगर उन बैंकों के काम करने के तरीकों में कोई गलती है, या कोई और गड़बड़ी है तो उनका विलयन किया जाना चाहिये। इसका एक उदाहरण "यूनाइटेड बैंक आफ इण्डिया" है, जो चार छोटे-छोटे बैंकों को मिलाकर बनाया गया था और आज उसकी गिनती भारत के छः बड़े बैंकों में होती है।

पाँचवीं दलील है गैर-सरकारी बैंक स्थानीय जनता की आवश्यकताओं की दृष्टि से नयी शाखाएँ नहीं खोलते। परन्तु आँकड़े बतलाते हैं कि अनुसूचित बैंकों ने १९५५ से १९६५ के बीच १५९४ नयी शाखाएँ खोलीं और कुल संख्या ४०१० तक पहुँचा दी। यह सब स्थानीय जनता की आवश्यकताओं की दृष्टि से ही तो किया गया, क्योंकि यदि वे स्थानीय जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करेंगे, तो उनकी ग्राहकी कैसे बढ़ेगी और उनको लाभ कैसे होगा ?

उनकी इस सफलता का महत्त्व और भी बढ़ जाता है जब हम देखते हैं कि सरकार की ओर से उनको, स्टेट बैंक की भाँति, सुविधाएँ नहीं दी गयी थीं।

अब राष्ट्रीयकरण के बाद बैंकों की कार्य-कुशलता बढ़ने की दलील को लीजिये।

इस सम्बन्ध में सबसे पहला सवाल यह उठता है कि क्या सरकार के पास इतनी बड़ी संख्या में योग्य और अनुभवी कर्मचारी मौजूद हैं जो सरकारी और गैर-सरकारी बैंकों की देश भर में फैली लगभग ६००० शाखाओं को सुचारु रूप से चला सकें ?

सरकारी क्षेत्र के कारखानों में एक-दो को छोड़कर शेष कारखानों का काम सन्तोषजनक रहा—ऐसा नहीं कहा जा सकता। गैर-सरकारी क्षेत्र के

कारखानों को सरकार की ओर से उतनी सुविधाएं उपलब्ध न होते हुए भी उनमें से अधिकांश मुनाफे में चलते हैं। परन्तु सरकारी कारखानों को पिछले वर्षों में लगातार घाटा रहा है।

यहाँ एक और भी बात ध्यान में रखनी चाहिये कि खातेदारों का विश्वास प्राप्त करना भी बैंकों के लिये उतना ही जरूरी है जितना कि रुपया जमा करने और निकालने में सुविधा और तत्परता बरतना। यदि खातेदारों को रुपया निकालने या जमा करने में ही एक-दो घण्टे लम्बी लाइनों में खड़ा होना पड़े तो उनकी तकलीफें बढ़ जायँगी।

अन्तिम दलील है कि सरकार यदि बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दे तो गैर-सरकारी बैंकों को होने वाला मुनाफा सरकार को मिल जायेगा और उस मुनाफे को कृषि तथा विकास-परियोजनाओं में लगाया जा सकेगा। परन्तु देखना यह है कि सरकार को बैंकों के राष्ट्रीयकरण से कितनी रकम मिल सकेगी ?

रिजर्व बैंक द्वारा प्रस्तुत आंकड़ों के अनुसार देश भर के गैर-सरकारी भारतीय तथा विदेशी बैंकों को १९६४ में कुल मिलाकर २५.५६ करोड़ रुपयों का लाभ हुआ। उसमें से करीब १४ करोड़ रुपये, सरकार को करों के रूप में मिल गये। इसके अलावा २.७८ करोड़ रुपये रक्षित राशि में जमा किये, ४.०९ करोड़ रुपये कर्मचारियों को बोनस के रूप में दिये और ४.१० करोड़ रुपये लाभांश के रूप में, उन पर आय-कर काटकर, शेयर-होल्डरों को दिये गये। जो शेयरों के बाजार भाव पर ८ प्रतिशत के लगभग था। इस प्रकार बैंकों के राष्ट्रीयकरण से सरकार को अधिक से अधिक ६० लाख रुपये की बची हुई राशि ही मिल सकेगी। अतः राष्ट्रीयकरण इस दृष्टिकोण से भी अव्यवहारिक है।

बैंकों का राष्ट्रीयकरण करना बैंकिंग व्यवसाय पर राज्य का एकाधिकार कायम करना होगा। ऐसे एकाधिकार से निजी उद्योग के उत्साह को धक्का लगेगा, निजी उद्योगपति अपनी ओर से नये-नये उद्योग खोलने में हिचकेंगे तथा देश में विदेशी पूंजी भी नहीं आयेगी, जिसकी हमें अत्यन्त आवश्यकता है।

ऐसा एकाधिकार जनतांत्रिक भी नहीं होगा। बैंकों के राष्ट्रीयकरण का औचित्य तभी होता जब देश के सभी उद्योग सरकारी होते। हमने अपने देश में उस एकाधिकारी प्रवृत्ति और उसकी बुराइयों से बचने के लिये ही तो मिली-जुली अर्थ-व्यवस्था का विधान किया है। हमारा समाजवाद भी जनतांत्रिक समाजवाद है, एकाधिकारी समाजवाद नहीं। हम यह मानकर चलते हैं कि सरकारी और गैर-सरकारी दोनों ही क्षेत्र एक दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं। इस बात को भूतपूर्व प्रधान-मन्त्री श्री नेहरू, श्री शास्त्री और वर्त्तमान प्रधान-मन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने बार-बार दुहराया है।

पश्चिम बंगाल की वर्तमान स्थिति

पिछले आम चुनावों के बाद १९ वर्षों से चली आ रही कांग्रेस की सार्वभौमिक सत्ता में रुकावट आयी। १७ प्रान्तों में से ८ में गैर-कांग्रेसी सरकारें बनीं।

केरल और पश्चिम बंगाल को छोड़कर बाकी के ६ प्रान्तों में जो मिली-जुली सरकारें बनी हैं, उनके साथ थोड़े-बहुत साम्यवादी शामिल होने के बावजूद उनके पिछले ४ महीनों के वक्तव्यों और शासन-प्रणाली से ऐसा लगता है कि उनका उद्देश्य प्रान्तों के उद्योगों की बढ़ोतरी, स्वदेश के प्रति वफादारी और नागरिकों के हितों की रक्षा करने का है। उन सब मंत्रियों में अधिकांश किसी समय के पुराने कांग्रेसी, समाजवादी, स्वतंत्र अथवा जनसंघ के दलों के हैं। वे सब चीन और पाकिस्तान की हरकतों के प्रति भी कांग्रेसियों से किसी प्रकार कम चिन्तित या जागरूक नहीं हैं।

केरल में यद्यपि वामपंथी साम्यवादियों का स्पष्ट बहुमत है परन्तु वह सुदूर दक्षिण में है, जहाँ चीन, वर्मा या पाकिस्तान का पड़ोस नहीं है। इसके सिवाय केरल वाणिज्य-उद्योग में भी पिछड़ा हुआ है इसलिये वहाँ की साम्यवादी सरकार ने मजदूरों और जनता को बहका कर कारखानों, आफिसों, ट्रेनों और बसों पर घेराव अथवा हमले करने को प्रोत्साहन नहीं दिया है। परन्तु पश्चिम बंगाल की स्थिति केरल से ठीक उल्टी है। यह महाराष्ट्र के बाद देश का सबसे बड़ा औद्योगिक केन्द्र है। चीन और पाकिस्तान की सीमाएँ इससे मिलती हैं, जहाँ से अवैध-रूप से सब तरह का आवागमन होना सम्भव है। उत्तरी हिस्से में तिब्बत, भूटान, सिक्किम और नेपाल है। यद्यपि यहाँ केरल की तरह साम्यवादी सरकार नहीं है परन्तु २८४ सदस्यों में उनके दोनों दलों के केवल ५९ सदस्य होने के बावजूद शासन की बागडोर एक प्रकार से वामपंथी साम्यवादी दल के हाथ में है।

मुख्य मंत्री श्री अजय मुखर्जी बंगला कांग्रेस दल के हैं और उनके साथ १३ दूसरे दलों का मिला-जुला मंत्रिमंडल है। इसलिये हर प्रकार की

अराजकता और आये दिन के घेरावों और मारपीट की जिम्मेवारी केवल वामपंथी दलों पर नहीं आती।

किसी भी राजनीति के विद्यार्थी से यह तथ्य छिपा हुआ नहीं है कि मार्क्स के अनुयायी हर कीमत पर देश या प्रान्त में साम्यवादी विचारों के प्रचार-प्रसार को प्राथमिकता देते हैं, इसके लिये भले ही कारखाने बन्द होकर उत्पादन घट जाय, बेकारी बढ़ जाय और स्कूल कालेज बन्द हो जायँ। भूख, बेकारी और जीवन की आवश्यक सुविधाओं से वंचित क्षुब्ध जनता का रोष ऊपर की श्रेणी के लोगों के प्रति बढ़ जाता है और वे सब मौका मिलते ही मारपीट, लूट-खसोट और अराजकता की सृष्टि कर देते हैं। वास्तव में कम्यूनिस्ट तो उसी प्रकार के मौके की ताक में रहते हैं।

पिछले ४ महीनों में बंगाल की जिस प्रकार की शोचनीय अवस्था हो गयी है, वह छिपी हुई बात नहीं है। सैकड़ों कारखाने घेराव या मारपीट के कारण बन्द या आधे बन्द पड़े हैं। आफिसरों और इञ्जीनियरों को अपनी जान-माल का डर बना रहता है, उत्पादन घटता जा रहा है, नये कारखाने बनने का तो प्रश्न ही नहीं—बल्कि पुरानों की बढ़ोतरी और आधुनिकरण भी रुक गया है। खाद्यान्नों के दाम बढ़ गये हैं क्योंकि दूकान-दारों ने बाहर से दालें आदि मँगाना कम कर दिया है। आये दिन ट्रेनों और बसों को रोककर उनपर पथराव किया जाता है, यही नहीं स्कूलों और कालेजों में भी तोड़-फोड़, हड़तालें और शिक्षकों को मारपीट की घटनाएँ होने लग गयी हैं।

इन सबसे कहीं अधिक खतरे का रूप बनता जा रहा है—प्रान्त के महत्त्वपूर्ण हिस्सों में वामपंथियों द्वारा घातक शस्त्रों से लैस होकर निरीह लोगों पर व्यापक रूप से हमला करना, उनके घर-दूकानों को जलाना अथवा लूटना और पुलिस के आफिसरों की या सिपाहियों की हत्या करना। इसका सबसे बड़ा उदाहरण है—उत्तरी बंगाल के सिलीगुड़ी के पास का नक्सलबाड़ी अंचल, जहाँ पिछले २ महीनों से एक प्रकार से प्रान्त का शासन नहीं के बराबर है। नई दिल्ली से सब दलों के संसद सदस्य वहाँ की स्थिति की जानकारी के लिये जाना चाहते थे परन्तु पश्चिम बंगाल

सरकार ने उन्हें रोक दिया है। पिछले दिनों बंगाल सरकार के ६ मंत्री वहाँ गये थे। उन्होंने जो वर्णन किया है, उसे सुनकर किसी भी सभ्य देश के नागरिक का माथा शर्म से झुक जाना स्वाभाविक है। वहाँ न केवल हत्या, लूट और आगजनी ही हुई है—बल्कि महिलाओं की अस्मत भी राजनैतिक गुण्डों द्वारा लूटी गयी है।

वामपंथी साम्यवादी शासक दल ने नक्सलबाड़ी के अपने उन साथियों को पार्टी से निकाल देने का ढोंग किया है पर यह सब केवल दिखावे के लिए है, वर्ना इस तरह की करतूतों में दोनों साम्यवादी दलों में साम्य है।

उत्पादन को ठप्प करने के लिए कारखानों के मजदूरों को हाथ में करना जरूरी है। बंगाल में अभी तक कांग्रेस द्वारा संचालित संस्था इन्टुक का बहुमत था परन्तु अब दूसरे दलों के मजदूरों को हर प्रकार से कुचला जा रहा है। यहाँ तक कि पिछले दिनों रानीगंज क्षेत्र में एक कोयले की खान में समाजवादी मजदूर दल के नेता श्री झा की हत्या नृशंसतापूर्वक कर दी गयी।

रेल, ट्राम, बस, जहाज और अन्य जरूरी प्रतिष्ठानों के मजदूरों को डरा धमका कर साम्यवादी दल में मिलाना शुरू कर दिया है।

पुलिस में जहाँ कहीं भी निष्पक्ष अफसर हैं, उनको महत्त्वपूर्ण स्थानों से बदल कर दूसरी जगह भेजा जा रहा है। यहाँ तक कि उनमें से कइयों का सार्वजनिक रूप से अपमान किया गया है।

देहातों में जनसुरक्षा समिति के नाम से कमेटियाँ स्थापित कर दी गयी हैं, जिनके कार्यकर्त्ता लोगों के घरों में जाकर तलाशी के नाम पर हर प्रकार के अत्याचार करते हैं।

सरकारी दफ्तरों में दल के सदस्यों को जरूरी महकमों में लगाया जा रहा है, जिससे कि वर्त्तमान शासन बदलने के बाद भी पार्टी को गुप्त सूचनाएं मिलती रहें।

देश भर के वामपंथी समाचार-पत्रों और कला-केन्द्रों के माध्यम से पार्टी के उद्देश्य और विचारों का प्रचार शुरू कर दिया गया है।

इतने बड़े पैमाने पर प्रचार कार्य के लिए बहुत बड़ी धन-राशि की आवश्यकता होती है, जिसका अधिकांश इनसे सहानुभूति रखने वाले दूसरे

देशों से छिपे तौर पर आता है। कहा जाता है कि तीन वर्ष पहले साम्यवादी दल के सर्वोच्च नेता डांगे की जमा रकम चायना बैंक में पकड़ी गयी थी।

सन्तोष की बात है कि इन सब समाज और देश विरोधी कामों के लिए दूसरे दलों के विधान सभाई सदस्यों के मन में शंका पैदा होने लगी है और उन्होंने अपनी पार्टी की सभाओं में इसके विरोध में जोरदार शब्दों में विचार भी प्रकट किये हैं। परन्तु अभी तक सिवाय पाँच सदस्यों के बाकी सब उसी मिली-जुली सरकार के साथ हैं। फिर भी हालात ऐसे बनते जा रहे हैं कि शीघ्र ही वर्त्तमान सरकार का शायद बहुमत न रहे। परन्तु प्रान्तीय कांग्रेसी नेताओं को भी अपने रवैय्ये में बड़े पैमाने पर तब्दोली करनी पड़ेगी। अगर उन्होंने श्री अजय मुखर्जी और उनके साथियों का, जो उनसे ज्यादा गांधीवादी विचारधारा के थे, खुले तौर पर अपमान नहीं किया होता, पद और सत्ता के लोभ को छोड़कर जनता के दुःख-दर्द में शामिल हुए होते तो बंगाल की यह शोचनीय हालत नहीं होती।

अब भी हमें दोनों साम्यवादी दलों को छोड़कर बाकी के दूसरे दलों के सदस्यों पर भरोसा है कि वे प्रान्त की बिगड़ती हुई स्थिति को सम्हाल लेंगे। जिस बंगाल के सपूतों ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए अपरिमित बलिदान किये, जहाँ से वन्दे-मातरम् और जन-गण-मन अधिनायक के मंत्रों की सृष्टि हुई—उस पवित्र बंग भूमि का आपसी मतभेदों के कारण किसी प्रकार भी अहित नहीं होने देंगे। हर्ष की बात है कि सिवाय दो-एक कम्युनिस्ट पत्रों के यहाँ के समाचार-पत्र पूरी तौर पर जागरूक हैं और प्रान्तीय सरकार की नाराजगी की परवाह किये बिना प्रान्त की सही स्थिति का चित्रण जनता के सामने रखते आ रहे हैं।

केन्द्र अभी तक सारी स्थिति का बारीकी से अध्ययन कर रहा है और ऐसा जँचता है कि अगर हालात ज्यादा बिगड़ने लगेंगे तो निश्चित रूप से हस्तक्षेप करेगा। परन्तु यह भी ध्यान में रखना जरूरी है कि बहुत ही सुनियोजित ढंग से साम्यवादी पश्चिम बंगाल में अपना काम करने जा रहे हैं और अगर इन्हें इसी प्रकार की ढील मिलती गयी तो हो सकता है कि आगे जाकर स्थिति को सम्हालना मुश्किल हो जाय।

सभी प्रजातंत्रीय दलों के सदस्य देश की सार्वभौमिक सत्ता को अक्षुण्ण रखना अपना प्रथम कर्त्तव्य समझते हैं, इसलिए हमें पूरा भरोसा है कि बिगड़ती हुई स्थिति को सम्हालने के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा की गयी उचित किन्तु कड़ी कार्यवाही का वे सब समर्थन करेंगे।